Regd. No. 2607/1-V8522

ISSN: 0970-1745
UGC Approved Journal No.: 42069

Shodh

[A Triannual Bilingual Refereed Research Journal of Art & Humanities]

Vol. XIV [Issue No. 2 & 3 combined] May– Dec. 2017

Chief Editor

Dr. Surendra Pandey

Editors

Dr. Vikash Kumar

Dr. Shailendra Kumar

Published by
History & Historical Writing Association, U.P., Varanasi (INDIA)
HIG-4, VDA Colony, Lalpur-II, Chandmari, Varanasi
Mob. 9451173404, Email:

Note: The responsibility of the facts given and opinions expressed in articles of journal is solely that of individual author and not to the publisher.

First Issue Publication 1984

Chief Editor :
Dr. Surendra Pandey
C-2, Satendra Kumar Gupta Nagar,
Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

Editor
(i) Dr. Vikash Kumar
Civil Line, Takiya Road,
Sasaram, Rohtas, Bihar

(ii) Dr. Shailendra Kumar
Assistant Professor,
Department of Management
Sikkim University, Sikkim

Executive-Editor
Dr. Santosh Bahadur Singh
Assistant Professor
Department of English
Lady Irwin College, University of Delhi

Co-Editor
Ripunjay Kumar Singh
Research Scholar,
Department of Hindi
Banaras Hindu University

Sub-Editor
Dr. Abhay Kumar
Assistant Professor, Dept. of Hindi,
Deshbandhu College, Delhi University

Shodh

......A Triannual Bilingual Refereed Research Journals of Arts & Humanities

Patrons

Dr. Jai Ram Singh

Principal Degree College, Palahipatti, Varanasi

Editorial Board

1. **Prof. Hirocko Nagasaki**, Osaka University, Japan.
2. **Prof. Ashok Singh,** Department of Hindi, Banaras Hindu University.
3. **Prof. Ravindra Nath Singh,** AIHC Department, Banaras Hindu University.
4. **Prof. Rangnath Pathak,** Department of Hindi, Banaras Hindu University.
5. **Prof. Chandrakala Tripathi,** Department of Hindi, Banaras Hindu University.
6. **Prof. Anita Singh,** Department of English, Banaras Hindu University.
7. **Prof. Abha Singh,** Pro Vice Chancellor, B.N. Mandal University, Bihar.
8. **Prof. Yogesh Kumar Sharma,** Department of English, Swami Shraddhanand College, University of Delhi.
9. **Prof. Sanghmitra,** Department of Political Science, Bodoland University, Assam.
10. **Dr. Nirmla Kumari,** Associate Professor, Hindi Department, Shri Varshney College, Aligarh.
11. **Dr. O.P. Singh,** Harishchandra P.G. College, Varanasi.
12. **Santosh Patel,** President Bhojpuri, Jan Jagaran Abhiyan, New Delhi.
13. **Dr. Ratnesh Tripathi,** Assistant Professor, Department of History, Satyawati College, University of Delhi.
14. **Dr. Vikash Kumar Singh,** Assistant Professor, AIHC Department, Banaras Hindu University.
15. **Dr. Varsha Singh,** Assistant Professor, English Department, Deshbandhu College, Delhi (DU).
16. **Vijay Kumar,** Assistant Professor, Department of English, Satyawati College, University of Delhi.
17. **Dr. Bhartendu Kumar Pathak,** Assistant Professor, Department of Hindi, Kashmir University, Shrinagar (J&K).
18. **Dr. Priyadarshini,** Assistant Professor, Department of Hindi, The English Foreign Languages University, Haiderabad, Telangana.

Content

1.	जैव विविधता–भारत में पादप विविधता का एक भौगोलिक अध्ययन **डा0 राजीव कुमार**	7-14
2.	भारतीय सामाजिक–आर्थिक विकास में ग्रामीण हाट की भूमिका **डॉ0 अभय कुमार**	15-18
3.	जिला कलेक्टर और भू–राजस्व व्यवस्था के उदय और विकास में मील के पत्थर **डॉ0 मु0 इकबाल खाँ**	19-22
4.	India & Israel: Similarities and need ofcollaboration **Dr. Vivek Sengar**	23-25
5.	समाज में बीड़ी उद्योगों के प्रति बढ़ती संभावनाएँः श्रमिकों के विशेष संदर्भ में **जुगुल किशोर सिंह**	26-31
6.	रवीन्द्र कालिया की कहानियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन **रिपुंजय कुमार सिंह**	32-34
7.	काव्य कारण विचारः **डॉ0 शशि मौलि नाथ पाण्डेय**	35-37

8.	विवाहित/अविवाहित स्त्री : सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण **डॉ0 भावना सिंह शाक्य**	38-48
9.	साहित्य तथा समाजशास्त्र : संक्षिप्त विश्लेषण **प्रो0 (डॉ0) सुभाष चन्द्र सिंह**	49-54
10.	मन्नू भंडारी की कहानियाँ : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन **अपराजिता मिश्रा**	55-58
11.	भरों का इतिहासः अवध के विशेष संदर्भ में **डॉ. मोहम्मद आदिल**	59-65
12.	Trends of Translation in North-East India in Colonial Era **Arvind Kumar Rawat**	66-75
13.	विचार, विमर्श और संघर्ष की कथा 'दलित आत्मकथा' **डॉ. अरविन्द कुमार**	76-81
14.	शिक्षा के क्षेत्र में डा0 राधाकृष्णन का योगदान **डॉ0 विनीत कुमार मिश्र**	82-85
15.	भारतीय संयुक्त परिवार का आण्विक परिवार में परिवर्तन **विवेक कुमार ओझा**	86-87

16.	उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों के सामाजिक आर्थिक स्थिति, शैक्षिक उपलब्धि और समायोजन का अध्ययन **अभिषेख कुमार पाण्डेय**	88-93
17.	हिन्दी कहानी की भाषा तथा बदलता स्वरूप **डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय**	94-104
18.	सुदामा चरित; कवि की निर्धनता की कहानी **डॉ0 भारतेंदु कुमार पाठक**	105-106
19.	SKILL DEVELOPMENT IN HIGHER EDUCATION : TRENDS AND ISSUES **Dr. C. B. MISHRA**	107-111
20.	वर्तमान परिवेश में स्त्री–विमर्श **डॉ0 विकास कुमार**	112-115
21.	Phrasal Identification and Analysis of Sanskrit Noun Phrase **Dr. Abhigyan Dwivedi**	116-121
22.	The Theme of Home and Exile in Joan Riley's Novel *The Unbelonging* **Dr. Varsha Singh**	122-125
23.	संत रैदास और उनकी विचारधारा **डॉ0 जगदीश प्रसाद शुक्ल**	126-131
24.	संस्कृति की अवधारणा और साहित्य **डॉ0 जगदीश प्रसाद शुक्ल**	132-135

जैव विविधता–भारत में पादप विविधता का एक भौगोलिक अध्ययन

डा0 राजीव कुमार
एसो0 प्रोफेसर, भूगोल विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़।

जीवमण्डल में पाये जाने वाले जीव जन्तु, पादप एवं सूक्ष्म जीवों के मध्य आनुवांशिक, जातिगत और पारिस्थितिक स्तर पर पायी जाने वाली विविधता जैव विविधता कहलाती है। सामान्य अर्थों में जैव विविधता से तात्पर्य वनस्पति एवं प्राणी में पाये जाने वाले जातीय भेद से है। किसी क्षेत्र में पाये जाने वाले पादप एवं प्राणियों की जातियों की संख्या उस क्षेत्र की जैव विविधता को दर्शाती है। जैव विविधता शब्द का प्रयोग 1986 में अमेरिकी कीट वैज्ञानिक ई0ओ0 विल्सन द्वारा किया गया। 1992 में रिओ शिखर सम्मेलन के बाद यह अधिक प्रचलित हुआ। पृथ्वी पर आकारिकी कार्यिकी तथा आनुवांशिक आधार पर विभिन्न प्रकार के जीव पाये जाते हैं। जैव विविधता का विस्तार मृदा में उपस्थित सूक्ष्म जीवाणुओं से लेकर विशालकाय प्राणी हाथी, सूक्ष्म लाइकेन से विशालकाय रेड वुड वृक्षों तथा अति सूक्ष्म प्लैंकटन से स्थूलकाय व्हेल मछली तक पाया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में 1987 में जैव विविधता को परिभाषित करते हुए कहा है ''जैव विविधता का तात्पर्य जीव जन्तुओं में पायी जाने वाली विभिन्नता, विषमता और पारिस्थितिकी जटिलता से है।'' पर्यावरणीय ह्रास के कारण जैव विविधता का क्षय हुआ है है। जीवों की अनेक प्रजातियाँ लुप्त हो गयी है अथवा संकटग्रस्त हो गयी है, जिसके कारण संरक्षण की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है।

जैव विविधता के प्रकार (Types of Biodiversity)

जैव विविधता को सामान्यतया तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है –

1. आनुवांशिक विविधता (Genetic Diversity) – इसका सम्बन्ध किसी प्रजाति विशेष में पाये जाने वाले जीवों की विविधता से है यह विविधता किसी एक स्थान पर एक ही जाति की जनसंख्या के जीवों में वितरित हो सकती है। यह विभिन्नता व्यक्तिगत जीन्स के कारण होती है।
2. जातिगत विविधता (Species Diversity) – पृथ्वी पर पाये जाने वाले सभी प्रकार के जीवों (पादप व प्राणी) की जातियों की विविधता जातिगत विविधता कहलाती है। इसमें सूक्ष्म जीव से लेकर–विषाणु, वैक्टीरिया तथा प्रोटिस्ट, पादप प्राणियों कवक के बहुकोशीय जगत तक शामिल है।
3. पारिस्थितिक विविधता (Ecosystem Diversity) – पृथ्वी पर अनेक पारिस्थितिक तत्र में पाये जाने से जैविक समुदायों में मिलने वाली विविधता को पारिस्थितिक विविधता कहते हैं। इसके अन्तर्गत स्थल पोषण स्तर, ऊर्जा प्रवाह आदि विविधताओं का समावेश रहता है। जैविक समुदाय में विभिन्न समुदायों द्वारा विशिष्ट पारिस्थितिकी तंत्र को भी विकसित कर लेते हैं, साथ ही एक दूसरे से अन्योन्य क्रिया भी करते हैं।

विश्वव्यापी जैव विविधता वितरण (Distribution of World Wide Biodiversity)

विश्व में कुल वनस्पति एवं जीव जन्तुओं की 1,41,800 प्रजातियां निर्धारित हैं, जिसको निम्नसारिणी में दर्शाया गया है।

सारिणी – विश्व में जैव विविधता का वितरण

प्रजातियाँ	संख्या	प्रतिशत
कीट	7,51,000	53.23

पादप	2,48,000	17.57
वन्य प्राणी	2,81,000	19.92
कवक	69,000	4.89
प्रोटिस्ट	30,000	2.13
शैवाल	26,000	1.84
जीवाणु	4,800	0.34
विषाणु	1,000	0.07
योग	**14,10,800**	**100**

उपरोक्त सारिणी में विश्व में जैव विविधता को दर्शाया गया है, सारिणी से स्पष्ट होता है कि विश्व में जैव विविधता के निर्धारण में कीट, पादप, वन्य प्राणी, कवक, प्रोटिस्ट, शैवाल, जीवाणु तथा विषाणुओं का योगदान होता है। विश्व में पादप जैव विविधता की संख्या 2,48,000 है, जो 17.58 प्रतिशत है। जैव विविधता के पादपों कारण पृथ्वी पर जीवमंडल का स्थायित्व निर्भर करता है। पृथ्वी पर मानवीय गतिविधियों के कारण पादपों का विलुप्तीकरण हो रहा है। उन्हें पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिससे विश्व के पर्यावरण में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, इसीलिये उसके अध्ययन की आवश्यकता बढ़ गयी है।

भारत में जैव वनस्पति विविधता (Biodiversity in India)

भारत जैव विविधता के सम्बन्ध में एक समृद्ध देश है। भारत की कृषि, पशुपालन, मत्स्यन, वानिकी एवं औषधीय उद्योग विशेष रूप से संतुलित है। भारत में लगभग 50,000 पादप जातियाँ पायी जाती हैं। जिसमें 20,000 पुष्पी पादप हैं। इनके अतिरिक्त भारत में निम्न फसलें भी उगायी जाती हैं जो मूलतः भारत से ही विश्व भर में फैली हैं। ये फसलें हैं–धान, गन्ना, एशियन बिग्ना (Asiatic Vignas), जूट, आम, सन्तरा, केला, बाजरा, मसाले, औषधियाँ आदि।भारतीय जैव विविधता की समृद्धता व विविधता को निम्न प्रकार समझा जा सकता है –

(I) हिमालय पर्वत तन्त्र :–

इसके अन्तर्गत हिमालय गिरीपाद, पश्चिमी हिमालय तथा पूर्वी हिमालय के क्षेत्रों को शामिल किया गया है, जो निम्न प्रकार से हैं।

(i) हिमालय गिरीपाद (Himalaya Foothills) : इनमें विशेष भाबर (Bhabar) और तराई (Tarai) निर्माण के गुण हैं और उत्तर में शिवालिक श्रेणी है। यहाँ प्राकृतिक मानसून सदाहरित और अर्धसदाहरित वन, प्रमुख जातियाँ, जैसे–साल (Sal), रेशम–सूती पेड़ (Silk Cotton Tress), विशाल बाँस (Giant Bamboo), लम्बे घासमय शदल (Tall Grassy Meadow) सवाना के साथ तराई में पाये जाते हैं।

(ii) पश्चिमी हिमालय (उच्च तुंग प्रदेश) (Western Himalayas : High Altitude Region)– यहाँ वनस्पतिके अन्तर्गतशंकुधारी चीड़ वन (Coniferous Pine Forests), रोडोडेन्ड्रान (Rhododendrons), वामन पहाड़ी बांस (Dwarf Hill Bamboo) और भूर्जवन (Brich Forests), अल्पाइन चरागाह (Alpine Pastures) से आते हैं।

(iii) पूर्वी हिमालय (Eastern Himalayas) : इसमें वनस्पति के अन्तर्गत बाज, मैग्नोलिया, लॉरेल और भूर्ज, मॉसएवं फर्न से ढके हुए चीड़ के फरऔर जूनिपर के शंकुधारी वन गुल्म रोडोडेन्ड्रान (Scrubby Rhododendrons) की अववृद्धि के साथ और वामन बाँस (Dwarf Bamboo), लाइकेन (Lichens), मॉस (Mosses), आर्किड्स (Orchids) वनस्पति को शामिल किया जाता है।

(II) प्रायद्वीपीय भारतीय उप–प्रदेश :–

प्रायद्वीपीय भारतीय उपप्रदेश के दो जोन हैं, (i) प्रायद्वीपीय भारत (Peninsular India) :– इसका विस्तार गंगा नदी तंत्र के अपवाह द्रोणी में और (ii) भारतीय मरुस्थल प्रदेश–थार भारतीय मरुस्थल प्रदेश।

(i) प्रायद्वीप भारत (Peninsular India) : वृष्टि और आर्द्रता में विभिन्नताओं के आधार पर यह उष्णकटिबंधीय आर्द्र पर्णपाती से शीतोष्ण शुष्क पर्णपाती और गुल्म वनस्पति का मिलती है। सोल उत्तर और पूर्व विस्तार से (अत्यधिक वृष्टि) और टीक (Teak) उत्तरी पठार में प्रमुख पेड़ हैं। पश्चिमी घाट में सदाहरित वनस्पति राजस्थान मरुस्थल और अरावली पहाड़ियों के शुष्क प्रदेशों में, पेड़ प्रकीर्ण (Scattered) और कंटीली झाड़ियों की जातियाँ प्रमुख हैं।

(ii) भारतीय मरुस्थल (Indian Desert) : राजस्थान के थार मरुस्थल की वनस्पति के अन्तर्गत कंटीले पेड़ समान पत्तियों के साथ केक्टस (Cacti), अन्य गूदेदार (Succulents) मुख्य पौधे हैं।

(III) उष्णकटिबंधीय वर्षावन प्रदेश :–

नीलगिरि (पश्चिमी घाट की शाखा) विस्तृत घासमय, सदाहरित वनस्पति शोला के घने वनीय तथा अन्नामलाई और पल्नी पहाड़ियों में पाई जाती है। पश्चिमी घाट के वर्षा वन घने और उच्छित पेड़ होते हैं जिसमें अत्यधिक जाति विविधता पाई जाती है। मॉस, फर्न, एपिफाइट, आर्किड, कंठलताएँ (Lianas) और अंगूरलताएँ (Vines), बूटियाँ (Herbs) और झाड़ियाँ (Shrub) से विभिन्न आवास बनाते हैं। इन वनों में डिप्टैरोकार्पस जातियाँ प्रमुख हैं। विभिन्न प्रकार के उष्णकटिबंधीय आर्किड पाए जाते हैं।

(IV) अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह

ये उष्णकटिबंधीय वर्षा वनों का क्षेत्र है। विशाल डिप्टेरोकार्पस (Dipterocarpus), टर्मिनेलिया (Terminalia) और लेगरस्ट्रोमिया (Laggerstroemia) मुख्य हैं। तटीय क्षेत्रों पर मैंग्रोव (Mangroves) पाये जाते हैं।

(V) सुन्दरवन में मैंग्रोव अनूप :–

सुन्दरवन गंगा का डेल्टा (Delta) है जहाँ ब्रह्मपुत्र और गंगा मिलती है और बंगाल की खाड़ी में गिरती है। यहाँ वनस्पति निचली ज्वारीय जोन में पुरोगामी (Pioneer) पेड़ हैं जैसे सोनेरेशिया (Sonneratia) और एवीसेनीया (Avicennia)। इस जोन के ऊपर (मध्य जोन) यहाँ राइजोफोरा (Rhizophora), बुगुयुरीया (Brugueria) और एक्सोकेरियासीरीयोप्स (Excacariacereops) वन हैं। इस स्तर के ऊपर फीनिक्स एक्सीकेरीया (Excaecaria) के आधारी वन हैं। सबसे ऊँचे भाग में हेरीटेरीया (Heriteria) वन है। फीनिक्स (Phoenix) और नीपा (Neppa) ताड़ की चौड़ी अववृद्धि वाले पेड भी यहाँ पाये जाते हैं।

भारतीय संकटापन्न वनस्पतियाँ

भारत में, लगभग 450 पादप जातियाँ कार्बन के बढ़ने के कारण से संकटापन्न (Endangered) रूप में पहचानी गई हैं जो दुर्लभ पादप प्रजातियाँ है। ये संकटग्रस्त वनस्पतियाँ देश के भिन्न भागों में खोज की गयी है जिसका वर्णन निम्न प्रकार से है :–

(I) हिमालय और पूर्वी भारत

1. एबीस डिलावाई (पिनेसी)
2. एकेन्थीफिपियम सिलहेटेन्स (ऑर्किडेसी)
3. एकोनिटम डाईनोरजम (रेननकुलेसी)

4. एडीनेन्ड्रा ग्रिफिथी (थीएसी)
5. एग्लेया परविरीडिस (मेलीएसी)
6. एकेबलेयेन्थस मल्टीफ्लोरस (माइरसीनेनसी)
7. एनाकोलोसा इलीकोइडिस (ओलीएसी)
8. एनोइक्टोलकीलस सिक्कीमेन्सीस (ऑर्किडेसी)
9. एन्जीयोपटेरिस इरेक्टा (एन्जीयोपटेरीडेसी)
10. एफाइलीरकिस मोनटेना (ऑर्किडेसी)
11. एरेक्नेन्थी केथकरटाई (ऑर्किडेसी)
12. ऐ0 कलारकी (ऑर्किडेसी)
13. आर्टिमीसीया एमीगडोलिना (एस्टीरेसी)
14. अरुनडीया ग्रेमिफोलिया (ऑर्किडेसी)
15. एस्ट्रागेलस स्ट्रोबिलिफेरस (पेपिलियोनेसी)
16. एट्रोपा एक्युमीनेटा (सोलेनेसी)
17. बेलनोफोरा डायोका (बेलेनोफोरेसी)
18. बोट्राइकियम विजीनीयेनम (ऑफियोगलोसेसी)
19. ब्रेने इनसीगनीस (ब्लेक्नेसी)
20. केमीलिया केडुका (थीयेसी)
21. केटामिक्सिस बेकेरोइडिस (एस्टीरेसी)
22. कोलचीकम लुटीयम (लिलिऐसी)
23. केपटिस टीटा (रेननकुलेसी)
24. साइथीया गाइगेनटीया (साएथीऐसी)
25. काइमबिडियम मेक्रोराइजोन (ऑर्किडेसी)
26. सीप्रीपीडियम कोरडिगेरम (ऑर्किडेसी)
27. सी0 एलिगेन्स (ऑर्किडेसी)
28. सी0 हिमेलेसिकम (ऑर्किडेसी)
29. सी0 मेकरेन्थन (ऑर्किडेसी)
30. डेन्ड्रोवियम डेन्सीफ्लोरम (ऑर्किडेसी)
31. डाएन्थस कोसकीमिरीकस (केरयोफाईलेसी)
32. डाइडिसीया कन्नीनगेमी (ऑर्किडेसी)
33. डायोस्कोरिया डेल्टॉयडिया (डायोस्कोरिऐसी)
34. डिपेटेरीस वॉलिचि (डिपटेरीडेसी)
35. डोसकिडिया बेन्गालेन्सीस (एसक्लिपिडेसी)
36. डि0 रेफलिसीयाना (एसक्लिपिडेसी)
37. ड्रॉसेरा इन्डिका (ड्रॉसरेसी)
38. डि0 बरमानी (ड्रॉसरेसी)
39. डलेकोकारपस प्रुनिफोलियस (एलियोकारपेसी)
40. एरीमोस्टेकिस सुपस्वा (लेमिऐसी)
41. इरीया क्रेसीकोलिस (ऑर्किडेसी)
42. गेलिओला लिन्डलियेना (ऑर्किडेसी)
43. गेस्ट्रोडिया एगजिलिस (ऑर्किडेसी)
44. जेन्साआना कुरु (जेन्टीएनेसी)
45. हेडीसेरम केकिमिरीएनीम (पेपिलयोनेसी)
46. हेलमिन्थोस्टेकाइस जेलेनिका (हेल्मिन्थोस्टेकाइस)
47. हेलविगिया हिमालेइका (हेलविंगनेसी)
48. इलेक्स एम्बीलोइडिस (एक्युफोलिऐसी)
49. आइओडस हुकेरीयेना (लिएसीनेसी)
50. लेवेटेरा काशमिरियाना (मालवेसी)

51. लेसपीडेजा एलिगेन्स (पेपिलियोनेसी)
52. लोरोपेटेलम चाइनेन्स (हामामेलिडेसी)
53. मेग्नीलिया ग्रिफिथी (मेग्नोलिऐसी)
54. एम0 गस्टेवी (मेग्नीलिऐसी)
55. टेरोअरपा (मेग्नोलिऐसी)
56. नारडोस्टेकाइम ग्रेन्डीफ्लोरा
57. नेपेन्थीस खासीयाना (नेपेन्थेसी)
58. ओलेक्स नाना (ओलेसी)
59. ओरमोसीया ग्लाओका (पेपिलियोनेसी)
60. ओस्मुनडा रीगेलिस (ओस्मन्डेसी)
61. पेफियोपिडाइलम डुगई (ऑर्किडेसी)
62. पि0 फेअरलिएनम (ऑर्किडेसी)
63. पि0 हिरसुटिसीमम (ऑर्किडेसी)
64. पि0 इन्सिग्ने (ऑर्किडेसी)
65. पि0 स्पाइसीरीएनम (ऑर्किडेसी)
66. पि0 वेनस्टम (ऑर्किडेसी)
67. पि0 विल्लोसम (ऑर्किडेसी)
68. फाइलोस्टेकिस बेम्बुसोइडिस (पोएसी)
69. पिसीया ब्रोकिटिला (पिनेसी)
70. पलेटिसेरम वालिचिआई (पोलिपोडिएसी)
71. पलिओन हयुमिलिस (ऑर्किडेसी)
72. पोडोफिलम हेग्जेंड्रम (पोडोफिलेसी)
73. पोपुलस गेम्बलिआई (सेलिग्जेसी)
74. पोटामिया पेराडॉक्सा (लोरेसी)
75. साइलोटम नुडम (साइलोटेसी)
76. रावोल्फीया सर्पेटीना (एपोसाएनेसी)
77. रेनेनथेरा इनस्कुटीयाना (ऑर्किडेसी)
78. रीयम नोबाइल (पॉलिगोनेसी)
79. रीडोडेन्ड्रान एरीजेलम (एरीकेसी)
80. आर0 डलहोजी (एरीकेसी)
81. आर0 एजवरथाइ (एरीकेसी)
82. आर0 निवेल (एरीकेसी)
83. आर0 नुटेलिआई (एरीकेसी)
84. आर0 सान्टापाई (एरीकेसी)
85. आर0 स्टीन्योलम (एरीकेसी)
86. हुकेराई (एनाकारडिऐसी)
87. सेप्रिया हिमालयाना (रेफलिसेऐसी)
88. सोउसुरीया ब्रेक्टीऐटा (एस्टेरेसी)
89. एस0 नेफेलोडस (एस्टेरेसी)
90. एस0 लप्पा (एस्टेरेसी)
91. साइजीया डिजिटेटा (शाइनिऐसी)
92. टेट्रासेन्ट्रॉन साइनेन्स भराउटी हिमालेन्स (टेट्रोसेन्ट्रेसी)
93. थाइलेकोस्पर्मम रूपीफ्रेगम (केरयोफिलेसी)
94. वेन्डा सोइरुलिया (ऑर्किडेसी)
95. वि0 पयुमिला (ऑर्किडेसी)
96. वैनिला पिलिफेरा (ऑर्किडेसी)
97. म्वाओला फेलकोनेरी (वायोलेसी)

98. जेन्थोजायलम स्केन्डेन्स (रूटेसी)

(II) राजस्थान और गुजरात

99. कोमीफोरा विघटीआई (बुरसरेसी)
100. हेलिक्राइसम कुटचीकम (एस्टेरेसी)
101. हाइफेन डाइकोटोमा (एरीकेसी)
102. मेकोनोपसीस बेटोनीसीफोलिया (पापावरेसी)

(III) गंगा मैदानी भाग

103. एल्ड्रीवेन्डा वेसीक्युलोसा (ड्रोसरेसी)

(IV) प्रायद्वीप भारत (Peninsular India)

104. एनीमिया टोमेन्टोसा (शाएजेसी)
105. एपामा बारबेरी (एरीसटोलीकिऐसी)
106. बेन्टीनकीया कोन्डेपन्ना (एरीकेसी)
107. सीरोपेगीया फेन्टेसटीक (एस्कलिपिडिऐसी)
108. साइकस बेडोमाई (साइकेडेसी)
109. डायोस्कोरीया विघटी (डायोस्कोरीऐसी)
110. एन्टडा परसेएथा (माइमोसेसी)
111. फरेरीया इन्डीका (एस्कलिपिडिऐसी)
112. नीटम युला (नीटेसी)
113. होया विघटी (एस्कलिपिडेसी)
114. लिलियम निलघेरेन्सी (लोबिलिऐसी)
115. लोबिलिया निकोटिएनीफोलिया (लोबिलिऐसी)
116. लोसेनेरीऐला बोरडिलोनी (हिप्पोक्रेटेसी)
117. मेनिसुरीयस डेवेरजेन्स (पोएसी)
118. पाइपर बारबेरी (पिपिरेसी)
119. पोडीकार्पस वेलिपीएनस (पोडोकार्पेसी)
120. टेरोकार्पस सेन्टेलिनस (पेपिलियोनेसी)
121. टेरोसपर्मम ओब्टयुसीफोलियम (स्टरकयुलेसी)
122. सेन्टेलम एल्बम (सेन्टेलेसी)

(V) अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूह

123. ऐलेन्थस कुर्जी (सीमेरुबेसी)
124. केनेरीयम मेन्नी (बुरसरेसी)
125. डिप्टेरोकार्पस केरी (डिप्टेरोकर्पेसी)
126. हिप्पोक्रेशिया निकोबेरीका (हिप्पोक्रेटेसी)
127. लेगरसट्रोमिया हाइपोल्युका (लाइथ्रेसी)
128. माइरीस्टीका अन्डमानिका (माइरोस्टीकेसी)
129. ओफियोग्लोसम पेन्डुलम (ओफियोग्लेसेसी)
130. पोडोकार्पस नेरीफोलियस (पोडोकार्पेसी)

भारत में संकटापन्न वनस्पतियाँ मिलने के कारण से संरक्षण की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। जैव विविधता संरक्षण हेतु भारत में भी उन्हीं प्रयासों पर अपनी सहमति दी है, जो विश्व में जैव विविधता संरक्षण के लागू की जा रही है।

पादप प्रजाति संरक्षण हेतु किये गये विश्व प्रयास :–

(1) जैव–विविधता संरक्षण संघ समझौता

इस समझौते का सूत्रपात सन् 1961 ई0 में ही हो गया था। परन्तु 1966 ई0 में यह अस्तित्व में आया। अनेक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर 1972 ई0, 1978 ई0 तथा 1991 ई0 में इसका संशोधन किया गया। पौधों की किसी नई प्रजाति के उत्पादन के संरक्षण की परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है। जब ज्ञात प्रजातियों से भिन्न किसी नवीन प्रजाति का विकास किया जाता है तब यह समझौता लागू होता है।

(2) जैव–विविधता सन्धि

सन् 1992 ई0 रियो–डी–जेनेरो में आयोजित पृथ्वी शिखर सम्मेलन में जैव–विविधता सम्बन्धी समझौता किया गया था। इस सन्धि का अनुमोदन 169 देशों ने किया था। इस समझौते के निम्नांकित मूल बिन्दु थे –

(i) जैव–विविधता के विभिन्न आयामों का व्यापक उपयोग एवं उनका संरक्षण किया जाय।

(ii) प्रजातिगत अन्यान्य स्त्रोतों से प्राप्त लाभों का न्यास संगत वितरण किया जाय।

(iii) प्राचीन जैव–विविधता को पुनर्जीवित किया जाय।

(iv) नवीन प्रजातियों का विकास कोई भी देश कर सकता है और सामर्थानुसार उनका विश्व व्यापार कर सकता है।

(3) जैव–विविधता एवं पर्यावरण संरक्षण की संगठन एवं एजेन्सियाँ

जैव–विविधता क्षरण एवं पारिस्थितिक असंतुलन से होने वाले परिणामों से उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए विश्व–स्तर पर अनेक संगठन एवं एजेन्सियों की स्थापना की गयी है। ये पर्यावरण वानिकी, वन्य जीवन आदि के संरक्षण में कार्य कर रही है। जो निम्नलिखित है :–

(i) प्रकृति एवं प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण–हेतु अन्तर्राष्ट्रीय संघ (International Union for Conservation of Nature and Natural Resources - IUCN)– हम आयोग की स्थापना 1948 ई0 में की गयी जिसका मुख्यालय मोरजेस स्विट्जरलैण्ड में है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्य अन्तर्सकारी एजेन्सीयों के लिए विश्व में कोश (World-wide fund-WWF) के कार्यों के साथ समन्वय स्थापित कर वैज्ञानिक रूप से संरक्षण तकनीक को बढ़ावा दे रही है।

(ii) इन्टरनेशनल कॉउन्सिल ऑफ साँइन्टिफिक यूनियन (International Council of Scientific Union - ICSU)– यह पेरिस की गैर सरकारी संगठन है। यह वैज्ञानिक सूचनाओं के आदान–प्रदान को बढ़ावा देता है। अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक समुदाय के उपचार में सामाजिक एवं राजनीतिक उत्तरदायित्व सम्बन्धी तत्वों को अध्ययन कर रिपोर्ट प्रस्तुत करता है।

(iii) संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (United Nations Environmental Programme-UNEP) –इसकी स्थापना 1972 ई0 में की गयी थी। इसका मुख्यालय नैरोबी (कीनिया) में है। यह एजेन्सी संयुक्त राष्ट्र की महत्वपूर्ण एजेन्सी है जो पर्यावरण परिरक्षण के लिए आन्तर्सरकारी उपायों के समन्वय का कार्य करती है।

(iv) पर्यावरण एवं विकास का विश्वव्यापी आयोग (World Commission on Environmental And Development) – पर्यावरणीय एवं विकास के मुद्दों के पुनर्रीक्षण तथा उनके लिए प्रस्ताव सूत्रबद्ध करने के लिए इस आयोग की स्थापना 1984 में हुई। प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान के स्तर, ऐच्छिक संगठन, सरकारी कार्यों आदि का निर्धारण पर्यावरण के सापेक्ष करता है। इस आयोग का यह कार्य है कि वह विकास कार्यों में समन्वय स्थापित करे।

(v) पृथ्वी रक्षा कार्यक्रम (Earth Watch Programme) –यह विश्वस्तरीय कार्यक्रम है, जिसकी घोषणा 1972 ई0 में की गयी। यह पर्यावरण प्रकृति को मॉनिटर करता है। वास्तव में इसका कार्यक्रम UNEP के साथ ही संचालित होता है।

(vi) अर्थ स्केन (Earth Scan) –इसकी स्थापना UNEP द्वारा 1976 में की गयी जो सभी प्रकार के पर्यावरणीय मुद्दों पर लेख तैयार कर विकासशील देशों को विभिन्न पत्र– पत्रिकाओं के माध्यम से बेचता है और समाज को जागरूक करता है।

(vii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संकटापन्न स्पीशीज पर अधिवेशन (Consvervation of International Trade in Endangered Species CITES)– यह अन्तर्राष्ट्रीय संघ है। इसकी सदस्यता कोई भी देश ग्रहण कर सकता है।

(viii) पर्यावरण परिरक्षण एजेन्सी (Environmental Protection Agencies - EPA)– यह युनाइटेड स्टेट की एक स्वतन्त्र इकाई है जिसकी स्थापना 1972 ई0 में की गयी। वायु, जल, ठोस अपशिष्ट, विकिरण, कीटनाशक, शोर आदि प्रदूषणों से पर्यावरण को परिरक्षित करने का कार्य करती है।

(ix) मानव एवं जीवमण्डल कार्यक्रम (Man and Biosphere Programme-MAB)–इसकी स्थापना 1971 ई0 में की गई। वास्तव में यह कार्यक्रम अन्तर्राष्ट्रीय जैविक कार्यक्रम (International Biological Programme-IBP) का परिणाम है। यह अपनी 14 परियोजनाओं के साथ अन्य अनेक संगठनों से मिलकर कार्य करता है। इसकी निम्नांकित परियोजनायें हैं –

(i) पर्यावरणीय गुणवत्ता का आवागमन।
(ii) जीवमण्डल पर पर्यावरणीय प्रदूषण एवं उसके प्रभाव पर अनुसंधान।
(iii) पर्यावरण रूपान्तरण एवं अनुकूलन, जनसंख्या वितरण, आनुवांशिक संरचना तथा इनके मध्य अन्योन्य क्रियायें।
(iv) मानव एवं उसके पर्यावरण पर अभियांत्रिक कार्यों का प्रभाव।
(v) नगर–तन्त्रों के ऊर्जा उपयोग पर विशेष महत्व सहित पारिस्थितिकी।
(vi) प्राकृतिक क्षेत्रों एवं उनके जीव पदार्थों का संरक्षण।
(vii) स्थलीय एवं जलीय पारिस्थितिक तन्त्र पर उर्वरक उपयोग का पारिस्थितिक मूल्यांकन।
(viii) द्वीपीय पारिस्थितिक तन्त्र का विवेकपूर्ण उपयोग।
(ix) पर्वतीय पारिस्थितिक तन्त्र पर मानव क्रियाओं का प्रभाव।
(x) झीलों, नदियों, डेल्टा, कच्छ, ज्वारनदमुख एवं तटीय प्रदेश के मानव तथा संसाधनों पर मानवीय क्रियाओं का प्रभाव।
(xi) शुष्क–अर्द्धशुष्क पारिस्थितिक तन्त्र पर मानव क्रियाओं का प्रभाव।
(xii) पशुचारण भूमियों पर मानव क्रियाओं का प्रभाव।
(xiii) शीतोष्ण एवं भूमध्य सागरीय वन भूमियों पर भूमि उपयोग एवं प्रबन्धन के पारिस्थितिक प्रभाव।
(xiv) उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धीय वन परितन्त्रों पर मानवीय क्रियाओं के पारिस्थितिक प्रभाव।

उपरोक्त प्रयासों को पादप संरक्षण के लिए लागू किये जा रहे हैं। भारत में भी पादप विविधता के संरक्षण हेतु किये जाने वाले प्रयासों को गम्भीरता से लिया जा रहा है ताकि पादप संरक्षण से मानव जीवन पर पड़ने वाले विपरीत प्रभावों को रोका जा सके। इसीलिए वर्तमान समय में जैव विविधता के संरक्षण हेतु संकटापन्न प्रजातियों का अध्ययन की आवश्यकता पर अधिक बल दिया जाने लगा है।

भारतीय सामाजिक–आर्थिक विकास में ग्रामीण हाट की भूमिका

डॉ. अभय कुमार
अिसस्टेंट प्रोफेसर,
हिंदी विभाग, देशबन्धु कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

सामाजिक परिवर्तन में आर्थिक व्यवस्था ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अर्थ ने जहां एक ओर सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन को दिशा दी वहीं राजनीति के क्षेत्र में भी अपना दबदबा कायम किया। अर्थ इसलिए महत्वपूर्ण है कि मनुष्य का आरंभिक जीवन सामूहिक रहा और जीवन की बुनियादी आवश्यकताएं आपसी हिस्सेदारी एवं जिम्मेदारी से पूर्ण होती रही। समूह से हटकर व्यक्ति की अस्मिता एवं अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकते। जीवन यायावरी रहा और खतरे अनेक थे। एक ओर जगली जानवरों डर एवं विपरीत प्राकृतिक अवस्था में समूह में रहना उसकी मजबूरी रही। आपसी संबंधों में आवश्यक आवश्यकता एवं मांग–पूर्ति के नियम की कोई गुंजाईश नहीं थी। बाद में यही छोटे–छोटे समूह गणों में विकसित हुए और के आधार पर उसके कार्य व्यापार में सामूहिक था शामिल थी। उनकी आवश्यकता जीवन को बचाने और आगे बढ़ाने की भी और उसकी पूर्ति के आधार आपसी सहयोग रहे। भोजन प्राकृतिक अवस्था में संघर्ष कर हासिल करना रहा। वंश वृद्धि के लिए कोई सामाजिक संस्थाएं जैसे, परिवार, विवाह, धर्म, कानून और शिक्षा का प्रचलन नहीं था। समूह परिवार था और बच्चे सामूहिक जिम्मेदारी का हिस्सा। इस स्थिति में अर्थ के मांग पूर्ति के नियम की कोई गुंजाइश नहीं थी। बाद में यही छोटे–छोटे समूह गणों में विकसित हुए और सामूहिकता की भावना को संगठित करने के लिए गणराज्य की स्थापना हुई। यह मनुष्य का सामाजिक इतिहास है जिसमें बाद में सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र की गतिविधियों ने प्रभावित किया। इसी के आधार पर समय–समय पर सामाजिक परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

सामाजिक जीवन में गणराज्य की स्थापना ने व्यक्ति की प्रतिभा और क्षमता के आधार पर मुखिया तय करना संभव हुआ। मुखिया के निर्देश के आधार पर गणों की शक्ति का विकास हुआ और जिन गाणों की क्षमता एवं शक्ति में वृद्धि हुई वह गण़ दूसरे गणों पर युद्ध अथवा शक्ति प्रदर्शन के आधार पर उस पर शासन करना आरंभ किया। इन प्रश्नों के उत्तर के लिए ऐतिहासिक साक्ष्यों का अभाव है। लेकिन विगत अनुभवों एवं छिटपुट साक्ष्यों के आधार पर इतिहासकारों ने एक सामाजिक इतिहास विकसित करने का प्रयास किया। सामाजिक इतिहास में यह देखा गया कि व्यक्ति से समूह और समूह से गण के विकास में अर्थ की भूमिका महत्वपूर्ण मानी गई। इस मायने में अर्थ व्यवस्था आधुनिक करेंसी में विनमिय प्रणाली की तरह काम नहीं कर रही थी बल्कि 'बदले के बदले' सिद्धांत के आधार पर मांग एवं पूर्ति की जा रही थी। इसलिए विनिमय आरंभिक रूप में श्रम के बदले श्रम और वस्तु के बदले वस्तु से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे थे। आवश्यकताएं अविष्कार की जननी मानी जाती है। इस आधार पर आरंभिक समाज की आवश्यकताएं उनके जीवन के प्रत्येक कदमों पर उपस्थित रही। मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में आवश्यकता ने परिवर्तन के लिए हमेशा द्वार खोलने का कार्य किया। आवश्यकता से मांग बढ़ी और मांग ने पूर्ति को पूर्ति करने के साधनों में इजाफा किया। इस तरह समाज में आवश्यकता और मांग एवं पूर्ति के आधार पर विकसित होना आरंभ हुआ और अर्थ विनिमय की ओर क्रमशः आगे बढ़ने लगा।

अर्थ के स्तर पर सामाजिक संरचनात्मक ढांचा को हम दो स्तर पर देख सकते हैं, एक सभ्यता के स्तर पर विकसित नगरीय व्यवस्था के रूप में सिंधु घाटी की सभ्यता तथा संस्कृति के स्तर पर ग्रामीण व्यवस्था वैदिक कालीन संस्कृति। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सभ्यता में हमें व्यापार के प्रमाण मिलते हैं। ''सिंधु घाटी के लोगों के जीवन में व्यापार का बड़ा महत्व था। इसकी पुष्टि हड़प्पा, मोहनजोदड़ो और लोथल में अनाज के बड़े–बड़े कोठारों के पाए जाने से ही नहीं होती बल्कि एक बड़े

भूभाग में ढेर सारी सीलों(मृन्मुद्राओं), एक रूप लिपि और मानवीयकृत माप–तोलों के अस्तित्व से भी होती है। हड़प्पाई लोग सिंधु सभ्यता क्षेत्र के भीतर पत्थर, धातु, शिल्क (हड्डी) आदि का व्यापार करते थे। लेकिन वे जो वस्तुएं बनाते थे उनके लिए आपेक्षिक कच्चा माल उनके नगरों में उपलब्ध नहीं था। वह धातु के सिक्कों का प्रयोग नहीं करते थे। संभव है कि वे सारे आदान–प्रदान विनिमय द्वारा करते हों। अपने तैयार माल और संभवत अनाज भी नावों और बैलगाड़ियों पर लादकर पड़ोस के इलाकों में ले जाते और उन वस्तुओं के बदले धातुएं ले आते।[1] इससे यह पता चलता है कि सिंधु घाटी सभ्यता बदले बदले में व्यापार चलता रहा जो श्रम या सामान के बदले में विनिमय होता था। यही स्थिति वैदिक कालीन समाज में भी पाते हैं। इस समाज में श्रम तो करते थे लेकिन उसके बदले मजदूरी जैसे शब्दों का प्रचलन नहीं था। प्राचीन ग्रंथ के रूप में मानी जाने वाली ऋग्वेद में भी का प्रावधान नजर नहीं आता है बल्कि गाय ही मूल्यवान सामग्री समझी जाती थी। ''ऋग्वेद में गाय की इतनी चर्चा है कि ऋग्वेदिक आर्यों को मुख्य रूप से पशुचारक कहा जाता था। उनकी अधिकांश लड़ाइयां गाय को लेकर हुई है। ऋग्वेद में युद्ध का पर्याय गविष्ट (गाय का अन्वेषण) है। गाय लगता है कि सबसे उत्तम धन मानी जाती थी। जहां तक पुरोहितों को दी जाने वाली दक्षिणा की बात आई उसमें आमतौर से गाय और दासियां होती थी और भूमि कभी ना होती।''[2] वैदिक काल में विनिमय का माध्यम पशु के रूप में गाय थी। इसका मतलब है कि वैदिक काल में धार्मिक स्तर पर विनिमयें के स्तर पर गाय को प्रधानता थी। गाय की प्रधानता का आधार अथवा धन समझना ही युद्ध का कारण रहा होगा। ''ऋग्वेद के प्राचीन भागों में गौ शब्द 176 बार आया है। मवेशी और धन दोनों समानार्थक माने जाते थे और गोमत् का अर्थ होता था धनवान। राजा गोप या गोपति कहलाता था।''[3] सामान के बदले समान अथवा श्रम के बदले श्रम के प्रावधान की तरह हम बलि के रूप में देख सकते हैं। ''राजा को दिया जाने वाला नजराना बलि (चढ़ावा) कहलाता था।''[4] श्रम के बदले पारिश्रमिक जैसे प्रावधान की व्यवस्था वैदिक कालीन समाज में नहीं पाते हैं। ''वैदिक साहित्य में मजदूर (वेज अर्नर) के लिए कोई शब्द नहीं है।''[5] सिंधु घाटी की सभ्यता हो अथवा वैदिक कालीन संस्कृति उस समय के व्यापार और सामाजिक व्यवहार में करेंसी जैसी विनिमय प्रणाली विकसित नहीं दिखती है। ग्रामीण जीवन में 'बदले के बदले' में सिद्धांत लागू होता रहा। इस आधार पर कह सकते हैं ग्रामीण जीवन में वाटर सिस्टम जैसी व्यवस्था मौजूद रही है। वस्तु विनिमय के आधार पर सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था का निर्वहन किया जाता रहा। ऐसी स्थिति में ***'ग्रामीण हाट'*** प्रथम व्यापार केंद्र बने होंगे जहां से सामाजिक अर्थशास्त्र विकसित हो पाया।

अर्थव्यवस्था का सामाजिक संरचना पर प्रभाव पड़ता है। भारतीय समाज वर्ण एवं जातियों में बैठी हुई है। इसके ऐतिहासिक प्रमाण ग्रंथों एवं सामाजिक व्यवहार में स्पष्ट रूप से उजागर होता है। इसी आधार पर समाज चार जातियों में– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एवं पांचवी, पंचम, अथावा अछूत के रूप में पाई जाती है। यहां पर प्रश्न उठता है कि ग्रामीण जीवन के अर्थशास्त्र में वर्णित जातियों की क्या भूमिका रही ? एवं इस तरह जाति व्यवस्था के रहते हुए ग्रामीण व्यापार में ***हाट*** की क्या भूमिका हो सकती है?

सांस्कृतिक अर्थशास्त्र जिसे हम धर्म एवं संस्कृति से जोड़ कर देख सकते हैं। सांस्कृतिक अर्थशास्त्र में एक तरफ आस्था एवं विश्वास है और दूसरी ओर इन्हीं के आधार पर सांस्कृतिक व्यापार की रूप रेखाएं भी बनती है। आधुनिक शब्द निवेश की जगह पर आस्था एवं विश्वास का निवेश हुआ और इसके बदले में दक्षिणा के रूप में परिणाम मिला। सांस्कृतिक अर्थशास्त्र में निवेश के स्तर पर शून्य है और लाभ के स्तर पर जितनी भी पाई जाए वह कम है। इसे हम इस तरह से समझ सकते हैं कि संस्कृति में भावनात्मक व्यापार में ग्राहक में आस्था एवं विश्वास आधारित अभौतिक सोच विकसित करना है और इसके परिणाम और लाभ में भौतिक वस्तुएं प्राप्त करनी है। यह स्थिति आधुनिक समाज में भी देखने को मिलता है जिसे बाजार की जगह धार्मिक स्थलों जैसे मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारे आदि कुछ भी हो सकते हैं। यद्यपि सास्कृतिक अर्थशास्त्र अनुत्पादक वर्ग में शामिल है फिर भी आर्थिक स्तर पर भौतिक लाभ के बारे में केवल अनुमान ही कर सकते हैं। धार्मिक अर्थशास्त्र ने ऐसा व्यापार आरंभ किया जिसमें निवेश शून्य होता है लेकिन आमदनी अथवा लाभ का अंदाजा नहीं लगा सकते हैं। अब यह सवाल उठता है कि सामाजिक संरचना में जहां एक और धार्मिक अर्थशास्त्र हावी रहा वहीं सामाजिक व्यवस्था में जाति व्यवस्था भी लागू है तो इस स्थिति में सामाजिक संस्तरण में *ग्रामीण हाट* की भूमिका कैसे तय होगी?

ग्रामीण जीवन में व्यापार का केंद्र हाट रहा है। हाट ने वस्तु विनिमय से लेकर करेंसी तक की यात्रा तय की है। ग्रामीणों की स्थिति में सुधार के लिए अर्थगत नीति के तहत विचार करें तो पाते हैं कि यह क्षेत्रीय भूभाग में अवस्थित कुछ गांव का आर्थिक केंद्र माना जा सकता है। हाट के निर्माण की प्रक्रिया गांव में उत्पादित वस्तुओं की विनिमय से है जिसे पहले पड़ोसी से होते हुए टोला, मोहल्ला फिर दूसरे गांव तक का सफर के रूप में देखा जा सकता है। इसके लिए हम तीन हाटों को उदाहरण के लिए रखेंगे पेरिस, फ्रांस में हाट, महानगर दिल्ली में हाट और मुंगेर जिला के दशरथपुर रेलवे स्टेशन के पास इटवा गांव में हाट। इन हाटों के आधार पर यह दिखाने का प्रयास है कि हाट चाहे पेरिस में हो या दिल्ली में अथवा इटवा गांव में, उसके बुनियादी सवाल और सरोकार का आर्थिक आधार क्या है? साथ ही यह भी स्पष्ट करने का प्रयास है कि ग्रामीण हाट की आर्थिक संचार से सामाजिक औ सांस्कृतिक स्थिति पर यह कैसे प्रभाव डालता है? वर्ग के अंतर्गत आते हैं और शूद्र जाति के।[6]

आर्थिक व्यवस्था का राजसत्ता से गहरा संबंध रहा है। सत्ता के स्थापित होने में अर्थ की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती रही है। अर्थ के बगैर न तो राजसत्ता स्थापित हो सकती है और ना सांस्कृतिक रूप से धर्म भी अपनी भूमिका निभा सकता है। राजनीति और धर्म के संचालन में अर्थ उसके केंद्र में रहा है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर भौतिक लाभ जैसे– धन संग्रह एवं धन लाभ को पाप की श्रेणी में रखा गया। जबकि वास्तविकता यह है कि इसके संचालन करने वाले पुरोहित वर्ग हों या अन्य सभी ने दक्षिणा के रूप में अर्थ का ही व्यापार करते दिखाई देते हैं। यद्यपि इसको पुण्य के साथ ईश्वरीय भक्ति से जोड़ कर एक नए छद्म रूप में अर्थ को स्थापित किया गया। यह भी आर्थिक क्षेत्र का व्यापार ही है। फर्क है तो केवल यह कि धर्म की आड़ में होने वाला विनिमय है। इसमें पूंजी की जगह ईश्वर तत्व होते हैं बाकी भूमि, श्रम के बाद वितरण (जो प्रसाद के रूप में) आर्थिक स्थिति ही लागू होती है। धार्मिक विश्वास एवं आस्था एक तरह की बिकने वाली वस्तु के रूप में प्रस्तुत होती है जिसका भौतिक अवशेष तो नहीं मिलता बल्कि भौतिक रूप से आदान–प्रदान वस्तु अथवा राशि के रूप में अवश्य होता है। एंगेल्स ने सभ्यता के विकास में वस्तु स्थितियों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि ''सभ्यता का विकास तब होता है जब बिकाऊ माल का चलन होता है। बिकाऊ माल के चलन से चार चीजें होती हैं, पहले यह धातु के बने हुए सिक्के चालू किए जाते हैं, दूसरी यह कि सौदागर उत्पादकों के मध्य बिचौलियों का काम करते हैं, तीसरी यह की भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व कायम होता है और चौथी यह कि उत्पादन में प्रधान भूमिका दास–प्रथा वाले श्रम की होती है।''[7] यद्यपि एंगेल्स ने यह विचार आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र से जुड़कर कहीं। आर्थिक उत्पादन का आधार लाभ से जुड़कर तय होता है और धार्मिक एवं सांस्कृतिक अर्थशास्त्र भी इसी से जुड़ा हुए हैं। इसमें अंतर है तो केवल उसके लेबल का है। इस तरह के उत्पादन में भूमि की जगह धार्मिक स्थल (मंदिर आदि) पूंजी के रूप में धार्मिक आस्था विश्वास, श्रम के रूप में पुरोहिताई, विनिमय के रूप में पुण्य का लाभ और वितरण की जगह प्रसाद आदि आ सकते हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक–सांस्कृतिक अर्थशास्त्र में धर्म से जाति, जाति से जाति–व्यवस्था और जाति–व्यवस्था से जजमानी प्रथा से जुड़ती हुई नजर आती है। इस तरह ''श्रम उत्पादक भी हो सकता है और अनुउत्पादक भी।''[8] एंगेल्स के दास भारतीय सामाजिक व्यवस्था में निम्न जातियां अथवा शूद्र ही है। अंतर केवल इतना भर है कि दास, भारतीय सामाजिक व्यवस्था में श्रम के बदले मजदूरी का प्रमाण जाति व्यवस्था के अंतर्गत जजमानी व्यवस्था में पाते हैं। जजमानी व्यवस्था एक तरह की प्राचीन समाज की आर्थिक व्यवस्था मानी जा सकती है। इस व्यवस्था में नाई द्वारा बाल काटना, धोबी द्वारा कपड़ा धोना, बढ़ई द्वारा लकड़ी के काम जैसे घर बनाना, हल बनाना आदि आती है। इन जातियों को उनके कार्यों एवं श्रम के बदले कोई राशि प्रदान नहीं की जाती थी बल्कि किसानों की फसल कटाई के दौरान ही उन्हें फसल का कुछ हिस्सा दे दिया जाता। सबसे बुरी स्थिति तब होती थी जब अकाल पड़ता था। सालों भर की मेहनत का परिणाम भी अकाल के गाल में समा जाता था। इनकी गरीबी एवं भूखमरी का मुख्य कारण जजमानी व्यवस्था में पाने वाले पारिश्रमिक का अनिश्चित होना भी रहा है। आर्थिक क्षेत्र में जजमानी व्यवस्था इन जातियों के शोषण का मुख्य आधार भी रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1990 पृ.64
2. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1990 पृ.76
3. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1990 पृ.247
4. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1990 पृ.76
5. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1990 पृ.249
6. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1990 पृ.64
7. शर्मा, रामविलास : भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1992 पृ 72
8. शर्मा के एल : भारतीय समाज, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1989 पृ. 1

Vol. XIV, [Issue No. 2 & 3 combined], May– Dec. 2017 ISSN: 0970-1745, UGC Approved Journal No.: 42069

जिला कलेक्टर और भू–राजस्व व्यवस्था के उदय और विकास में मील के पत्थर

डॉ0 मु0 इकबाल खाँ
एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग,
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

जिला कलेक्टर केन्द्र और राज्य सरकार की नीतियों को जिले के स्तर पर लागू करने वाला जिले का सबसे बड़ा प्रशासनिक अधिकारी होता है। सरकार द्वारा निर्धारित किये गये लक्ष्यों को प्राप्त करने में उसकी केन्द्रीय भूमिका होती है। वह भारतीय प्रशासनिक सेवा, जिसे ब्रिटिश शासन में भारतीय सिविल सेवा के नाम से जाना जाता था, का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी है। जिले की **'कानून व्यवस्था बनाये रखना'** उसकी प्रमुख जिम्मेदारी है। **जिले के विकास** के लिए भी वही उत्तरदायी है या यह कहें कि आम जनता के लिए जिले के स्तर पर सरकार वही है तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। सरकार के कार्यों का वास्तविक रूप से सफल बनाना उसी का काम है। वह सरकार की आँख, नाक, कान और भुजा है।

एक समय था जब कलेक्टर को जिला प्रशासन का 'किंग पिन' कहा जाता था लेकिन समय के साथ राज्य के कार्यों के बढ़ने और विभिन्न सुधारों ने कलेक्टर की स्थिति में व्यापक बदलाव किया है। आज वह कार्यों के बोझ से दबा **जनता का सेवक** मात्र बनकर रह गया है। उसके पद के सृजन और कार्यों में आने वाले बदलाव का अध्ययन करना आवश्यक है। आज भी जिले के स्तर पर सरकार के सारे कार्यों को पूर्ण करने की जिम्मेदारी कलेक्टर या डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की ही है।[1] उसके कार्यों की लिस्ट बहुत लम्बी है।

ऐतिहासिक परिदृश्य–

वैदिक साहित्य और मनुस्मृति महत्वपूर्ण स्रोत हैं यह बताने के लिए कि प्राचीन काल में लोगों की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों को नियंत्रित करने, उनकी सम्पत्ति और जान की सुरक्षा करने के लिए कुछ व्यवस्थायें मौजूद थीं। उस समय प्रत्येक ग्राम की देखभाल ग्राम का **मुखिया या अध्यक्ष** करता था। 1000 ग्रामों को मिलाकर एक **'यूनिट'** बनाया जाता था जो एक अधिकारी के नियंत्रण में होता था। इस अधिकारी को आज हम **कलेक्टर** और यूनिट को **जिला** कहते हैं।[2]

कलेक्टर के पद के उदय में **'मोर्यकाल'** मील का पत्थर साबित हुआ। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से पूरे साम्राज्य को **क्षेत्रीय यूनिटों** में बांट कर प्रत्येक को **'शाही अधिकारी'** (Imperial Authority) के नियंत्रण में रखा।[3] उस समय एकात्मक शासन की व्यवस्था की गयी जिससे कि लोगों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का ठीक ढंग से निपटारा किया जा सके। क्षेत्रीय यूनिट को **'जनपदों'** (जिलों) में बांटा गया। प्रत्येक जनपद का अधिकारी प्रादेशिका (Pradesika) होता था। जनपद का डिवीजन (ग्रामों का समूह) करके उसके एक हिस्से को **स्थानिका और गोप** (Sthanika and Gopa) के नियंत्रण में रखा गया। सबसे निचले स्तर पर **'ग्राम'** की निगरानी और नियंत्रण रखना **'ग्रामिका'** (Gramika) की जिम्मेदारी थी। गाँवों के लोगों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति की जानकारी व्यापक सर्वे के बाद रजिस्टर में दर्ज करना ग्रामिका का काम था। उससे उम्मीद की जाती थी कि वह सही जानकारी राज्य को उपलब्ध करायेगा।[4] मोर्यकाल का **'प्रादेशिका'** वर्तमान समय का **जिला कलेक्टर** है। उस समय 'प्रादेशिका' अपने भोगोलिक क्षेत्र की प्रशासनिक जिम्मेदारी के साथ–साथ सैनिक और न्यायायिक कर्तव्यों को भी पूर्ण करता था।[5] मोर्यों द्वारा अपनाई गई व्यवस्था इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि आगे आने वाले सभी राजाओं ने थोड़े बहुत बदलाव के साथ उसे बनाये रखा।

जिला कलेक्टर के पद के उदय में **'मुगलों'** द्वारा अपनाई गयी व्यवस्था भी मील का पत्थर साबित हुई। मुगलों ने पूरे साम्राज्य को **'सूबों'** में बाँटा। प्रत्येक सूबा **'शिकदार'** (राज्यपाल) के नियंत्रण में होता था। सूबे का अधिकार **'प्रिन्स'** या शाही खानदान के व्यक्ति को दिया जाता था। सूबे को प्रशासन की दृष्टि से **'सरकार'** (जिला) में बांटा गया। प्रत्येक जिले में तीन अधिकारी होते थे।

अमालगुजार (Amalguzar) का काम राजस्व संग्रह करना, खेती की उत्पादकता बढ़ाना, खराब और बंजर भूमि को खेती योग्य बनवाना, भूमि विवादों को सुलझाना, कानून व्यवस्था भंग करने वालों को सजा दिलवाना, प्राकृतिक आपदाओं जैसे बाढ़, सूखा, ओले गिरना, महामारी और खड़ी फसलों का बर्वाद होना आदि में किसानों की मदद करना। मुगलों ने न्यायिक कार्य को कार्यपालिका के कार्य से अलग करके प्रशासनीय कार्य किया। **'काज़ी'** और **'मीर आदिल'** को न्यायायिक कार्य की जिम्मेदारी सोंपी गई जिससे कि लोगों को बगैर पक्षपात के सही न्याय प्राप्त हो सके। उन्हें अपने अधिकारों और कर्तव्यों के संचालन में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की गई। **'फौजदार'** जिले के स्तर पर राजा का नियुक्ति किया हुआ प्रतिनिधि होता था। वह 'शिकदार' (राज्यपाल) के निर्देशन और नियंत्रण में कार्य करता था। उसका प्रमुख काम आर्मी को हर समय के लिए सुसज्जित रखना था। वह कानून व्यवस्था बनाये रखने और राजस्व संग्रह में भी अमालगुजार (Amalguzar) की मदद करता था।[6] इन 'शिकदार' (राज्यपाल) को **'निज़ाम'** भी कहा जाता था। राजा द्वारा दिये गये भोगोलिक क्षेत्र में 'जमीदार' द्वारा निश्चित संख्या में सैनिक भी तैयार किये जाते थे। शान्ति को खतरा उत्पन्न होने की स्थिति में जमींदार भी फौजदार की मदद करते थे।

ब्रिटिश शासन में राजस्व संग्रह के लिए भूमि बन्दोबस्त–

1757 के **'प्लासी के युद्ध'** में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला की पराजय और 1765 के **'बक्सर के युद्ध'** में मुगलों की पराज्य के बाद ईस्ट इन्डिया कम्पनी को भारत में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी का अधिकार मिल गया। कम्पनी ने भू–राजस्व संग्रह के लिए अपने अधिकारियों को नियुक्त नहीं किया क्योंकि उन्हें इस कार्य का अनुभव नहीं था। कम्पनी किसी तरह का जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं थी इसलिए राजस्व के कार्य का अनुभव होने तक इस कार्य को नवाब के राजस्व अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया गया।[7] **दीवान** ने लगान वसूली का काम ठेकेदार को दे दिया। इस कार्य के लिए कम्पनी ने 1770 में **'सुपरवाइजर'** को नियुक्त किया। सुपरवाइजर के पद को शक्तिशाली बनाने के लिए तत्कालीन गवर्नर जनरल **वारेन हेस्टिंग** ने 1772 में भू–राजस्व संग्रह के समस्त अधिकार देते हुए उसका नाम बदलकर '**कलेक्टर**' कर दिया। कलेक्टर को भू–राजस्व का नियमित और स्थाई अधिकारी बना दिया।[8] इस तरह हम कह सकते हैं कि वारेन हेसिटंग वर्तमान **कलेक्टर के पद का जन्मदाता** है। वारेन हेस्टिंग ने बंगाल प्रांत से द्वैद शासन का अन्त कर दिया।

ज़मीदारी व्यवस्था–

ज़मींदारी व्यवस्था का आरम्भ **रेगूलेशन–प्रथम**, **1793** के माध्यम से हुआ। **लार्ड कार्नवालिस** ने कम्पनी की तरफ से बंगाल, बिहार उड़ीसा और मद्रास के कुछ हिस्सों में **'स्थायी बन्दोवस्त'** बड़े भू–स्वामियों के साथ या ज़मींदारों के साथ किया। इस व्यवस्था के तहत ज़्मींदार को भूमि का स्वामी मानकर लगान वसूली का काम दिया गया। अब कम्पनी नहीं बल्कि ज़मींदार किसानों से लगान वसूल करके उसका 89 प्रतिशत कम्पनी को देगा और 11 प्रतिशत अपने पास रखेगा। कम्पनी ने यह व्यवस्था अपने बढ़ते हुए वित्तीय व्यय को पूर्ण करने के लिए की थी। कम्पनी की तरफ से जमींदारों को यह अधिकार प्राप्त था कि लगान न देने वाले किसानों को ज़मीन के अधिकार से बेदखल कर दे। ज़मींदारों ने किसान का शोषण प्रारम्भ कर दिया। किसान अपनी खेती की ज़मींनों को बचाने के लिए महाजनों से कर्ज लेने लगे। महाजनों ने कभी न खत्म होने वाले कर्ज के चक्रव्यूह में किसानों को फंसा लिया। इस व्यवस्था ने ज़मींदारों को संरक्षण प्रदान किया और वे ब्रिटिश सरकार के वफादार बन गये। इस व्यवस्था में स्पष्ट नहीं था कितने प्रतिशत तक भू–राजस्व कर ज़मींदारों द्वारा किसानों से वसूला जा सकता है। ज़मींदारों ने किसानों से इतना अधिक लगान वसूल करना शुरू कर दिया है कि किसाने ग्राम छोड़कर ही भागने लगे।

रैयतवाड़ी व्यवस्था–

इस व्यवस्था का जन्मदाता **'थॉमस मुनरो'** था। यह व्यवस्था 1792 में मद्रास, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, आसाम, बंगाल तथा पंजाब के कुछ हिस्सों में लागू की गयी थी। भारत में ब्रिटिश हुकूमत के लगभग 50 प्रतिशत क्षेत्र में रैयतवाड़ी व्यवस्था को लागू किया गया था।

इस व्यवस्था के तहत **किसान को भूमि का स्वामी** माना गया। किसान को सीधे लगान सरकार को जमा करना होता था। इस व्यवस्था के तहत अपनी जमीन को बेचने, हस्तांतरित करने और लीज़ पर देने के समस्त अधिकार किसान या रैयत को प्राप्त थे। जब तक किसान समय पर लगान देता था। उसे ज़मीन के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता था।[10] इस व्यवस्था के तहत भी किसानों को 30 से 50 प्रतिशत तक अपनी फसल का लगान के रूप में देना पड़ता था जो उनकी सामर्थ में नहीं था। आपकी जमीन को बचाने के लिए किसान ऊँची ब्याज दरों पर महाजनों से ज़मीन गिरवी रख कर लोन लेने लगे। लोन न चुका पाने की सूरत में महाजनों ने उनकी जमीन जब्त कर ली और फिर स्वयं महाजन उस पर खेती कराने लगे। महाजन के रूप में एक नये प्रकार का जमींदार समाज में तैयार हो गया। इससे देश में **सामंतवाद** की प्रथा का जन्म हुआ।

महालवाड़ी व्यवस्था–

रैयतवाड़ी व्यवस्था की विफलता के बाद महलवाड़ी व्यवस्था शुरू की गयी। इसे **'विलेज व्यवस्था'** भी कहा जाता था। **रेगूलेशन VII–1822 और रेगूलेशन IX–1833** ने इस व्यवस्था की बुनियाद रखी। **हॉल्ट मैकेंजी** द्वारा ही इसका पूरा प्रस्ताव तैयार किया गया था इसलिए उसे महालवाड़ी व्यवस्था का जन्मदाता माना जाता है। यह व्यवस्था उत्तर प्रदेश, अवध, पंजाब और मध्यप्रदेश में लागू की गयी थी। इसके तहत **'पूरे विपेज या ग्राम को यूनिट मानकर भू–राजस्व का संग्रह'** किया जाता था। ग्राम का **मुखिया या लम्बरदार** राजस्व के एकत्रीकरण और उसको कोषागार में जमा करने के लिए उत्तरदायी था।[11] ब्रिटिश भारत शासन के नियंत्रण वाला केवल 30 प्रतिशत हिस्सा इस व्यवस्था में अन्तर्गत आता था। यह व्यवस्था भी विफल हो गयी क्योंकि भू–राजस्व का निर्धारण केवल अनुमान के आधार पर था।

उपरोक्त तीनों व्यवस्थायें भू–राजस्व के निर्धारण में विफल रहीं। इन व्यवस्थाओं से सबसे अधिक पीड़ित और शोषित किसान रहा। इन व्यवस्थाओं का लाभ प्रत्यक्ष रूप से सरकार को और अप्रत्यक्ष रूप से ज़मीदार को हुआ। ये व्यवस्थायें कम्पनी के अधिकारियों के लिए भ्रष्टाचार का कारण भी बनीं।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार अधिनियम, 1950 –

1947 में देश के स्वतंत्र होने के बाद खेती की दुर्दशा और किसान की भीषण गरीबी को दूर करने के लिए भूमि व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता हुई। ज़मींदारी समाप्त करने के लिए 1950 में नागरिकों के **'मौलिक अधिकार के अनुच्छेद 19 (1)(च) और अनुच्छेद 31 में संशोधन'** किया गया। इस संशोधन ने राज्यों को जमींदारी समाप्त करने के लिए कानून बनाने का अधिकार प्रदान किया। जब तक विद्यमान भूमि व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन नहीं किया जाता है तब तक ग्रामीण क्षेत्रों का विकास करना, कृषि की उत्पादकता बढ़ाना और किसान के जीवन स्तर को बेहतर करना संभव नहीं है।[12] सरकार ने जमींदारी उन्मूलन अधिनियम बनाकर ज़मींदारों के सारे अधिकार समाप्त कर दिये। जो किसान पिछले 6 साल से भूमि पर खेती कर रहे थे। उन्हें ज़मीन के समस्त अधिकार दिये। लम्बी कानूनी लड़ाई के बाद ज़मींदार आपकी ज़मीन सरकार को देने के लिए तैयार हुए। इस ज़मीन के बदले सरकार ने उन्हें 'हरजाना' दिया अर्थात् उनके नुकसान की भरपाई की।

भूमि जोत पर सीलिंग लगाने का प्रावधान (Ceiling on Land Holidays) 1960–

इस कानून का उद्देश्य कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ–साथ भूमिहीन खेतिहर मजूदरों को भूमि उपलब्ध कराना था। सीलिंग के माध्यम से भूमि का अधिक न्यायसंगत वितरण किया गया। भूमि को विभिन्न सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी उपयोग में लाया जा सकता है। सीलिंग अधिनियम के तहत किसी भी व्यक्ति के पास सरकार द्वारा निर्धारित की गई सीमा से अधिक जमीन

नहीं होगी। भूमि व्यवस्था राज्य का विषय है। इसलिए सभी राज्यों ने प्रत्येक व्यक्ति भूमि की उच्चतम सीमा अलग–अलग निर्धारित की। किसानों की ऐसी भूमि जो चाय, कॉफी के बागों, पशुपालन, पशु प्रजनन, डेरी, गन्ने के फार्म, ऊन उठाने का कार्यों के लिए प्रयोग में लाई जा रही थी, को भूमि सीलिंग से दूर रखा गया।[13]

भूमि जोत का समेकम (Consolidation of Land Holidays)

इसका उद्देश्य **चकबन्दी** के माध्यम से किसान के अलग–अलग जगह पर विद्यमान खेती की भूमि या चक को एक जगह करना। इससे किसान के समय की बचत होगी और वह जमीन का बेहतर प्रबन्धन कर सकेगा। इससे खेती की लागत कम आयेगी और जमीन के झगड़े भी कम होंगे। यह व्यवस्था 1960 से 1985 तक विद्यमान रही।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. S.S. Khera; District Administration in India, Asia Publishing House, Bombay, 1964, P. 1
2. S.S. Khera; op.cit. p. 3
3. R.K. Mukherjee; Ashoka the Great, in R.C. Majumdar (ed.) The Histroy and Culture of Indian People, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, Vol. II, 1935, P. 79.
4. M. H. Gopal; Mauryan Public Finance, London, 1935, P. 202.
5. A.S. Altekar; State and Government in Ancient India; Motilal Banarsidas, Delhi, 1958, P. 322.
6. B.P. Singh; Evolution of the Office of the Deputy Commissioner in Assam, IIPA New Delhi, Vol. XXIII, No. 4, Oct.-Dec., 1977, P. 893.
7. Clive to Court, I.O. MSS Eur. E. 12, Sep. 29, 1765, PP. 76-77.
8. G.K. Gleig; Memoirs of the Life of the Right Hon'ble Warren Hastings, Vol. I, P. 268.
9. Vera Austey; Land Reforms in India, Journal of Local Administration Overseas, Her Majesty's Stationary Office, Vol.-I, No. 2, April 1962, P. 89.
10. S.K. Mishra and V.K. Puri; India Economy (Its development experiences), Himalaya Publishing House, Bombay, 1989, P. 453.
11. Ibid; P. 454
12. U.P. Zamidari Abolition and Reforms Act, 1950, Eastern Book Company, 1987, P. 2.
13. Planning Commission, Second Five Year Plan, pp. 196-97

India & Israel: Similarities and need ofcollaboration

Dr. Vivek Sengar
Assistant Professor, Department of History
Sri Varshney College, Aligarh

India and Israel are two different countries, India[1] is one of the largestcountries in the world easily pointed out in world atlas while Israel[2] is a verysmall country and hardly pointed out in world atlas. India is one of the poorestcountry with a very low per capita income, while Israel is among the top 20 inper capita income index.

In both countries religions were established, some of which have amongthe largest numbers of followers in the world. In India Hinduism, Budhism,Jainism, Sikhism and Muslims were established. The holiest sites of thesereligions exist in India. In Israel, Judaism and Christianity were established boththe dominant religions are as ancient as five thousands year old and influencedthe establishment of other religions. The followers of both religions believetheir religions in cradle of the whole human culture. These are the only greatreligions which had not force their religions on others by coercion orconversion.

Both the countries. Especially their dominant religions, are multi-ethnicand have many difference between the different communities. Even so thesecountries have established a national ethos among its citizen with got its boostmostly because of there problems with neighboring countries.

Both countries never had a single local continuous ruler. The lands ofthese countries always fascinated foreigners, India because of its spice andprosperity, and Israel because of its holiness. Both countries had many foreigninvaders, conquerors and settlers all claiming it to be theirs. The histories ofboth these countries are sequences of different conquerors who arrived therefrom different parts of the world.

Both these countries before independence were under British control.[3.4]Thefreedom fighters of both these countries can be divided in to two groups whowere political rivals of each other. In both these countries the freedom fighterswho received the management of the countries tried tothe suppress the othergroup after independence.

Both these countries were the only countries which were establishedafter world war II and adopted the democratic system and remaineddemocratic since then.

Both these countries during independence were in total chaos and peoplewere leaving and arriving in these countries. In India a large Muslim population left India for Pakistan while Hindus and Sikhs arrived in India. In Israel a largeMuslim population left Israel and many Jews arrivedIsraél from different partsof the world.

Both these countries since their independence had wars with theirneighbors over the border issue. India had wars with Pakistan and China and itsborders with these countries are disputed. Israel had wars with Syria, Egypt,Lebanon, Jordon and Saudi Arab and its borders isnor clear yet. India, whencreated had Pakistan flanked on both its sides. Today Israel has the Palestinianentity flanked on both its sides.

Both these countries had important political leaders assassinated afterbeing blamed as traitors. In 1948 Mahatma Gandhi was assassinated in Indiabecause his assassin saw in Mahatma Gandhi responsible for all the violent actswhich occurred in India against Hindus and because India was partitioned andparts of India became a Muslim country, Pakistan. In 1995 Yitzhak Rabin wasassassinated in Israel because his assassin saw him responsible for the terroristacts in which many Jews died and also because Rabin was giving Palestinianswhat is considered to be land of Israel.

India's Nehruvion policies kept India and Israel politically apart for overforty years despite sharing. Many attributes in common. India and Israelemerged as nation states within months of each other. Following India'semergence as an independent nation on 15 August 1947, Israel emerged asnation state on 14 may 1948, as a result of a decision by the United nation, thefirst such nation. India and Israel thought comparatively emerging as newnation states were steeped in History of over five thousand years. India & Israelare democracies and have survived in a sea of hostility, surrounded byimplacable adversaries and a heavily militarized security environment. BothNation have fought wars in nearly every decade of their existence.[5.6]Bothcountries also have been facing external and internal security threats in the formof terrorism and sabotage. It should have been therefore natural for India toreach out to Israel in terms of establishment of meaningful political andeconomic relations.

In the pre-independence period, Gandhi, Nehru and India nationalcongress had opposed the creation of a "Jewish National Home and Indiavoted against the admission of Israel in United Nations in May 1949. Despitethe official line propagated by Nehru, the entire section of India's oppositionparties from the Left (Communist and Socialist parties) to Right (Jansangh andSwatantra parity) ceaselessly stressed the need for close political and economicties with Israel.

India established official relations with Israel in 1991. In 1997, Israel'spresident EzerWeizman became the first head of the Jewish state to visit India.Weizman Negotiated the first weapons deed between the two nations, involvingthe purchase of Barak-1 (Surface to Air Missiles) from Israel. The purchase ofBarak-1 missiles from Israel by India was a tactical necessity since Pakistan hadpurchased ***P-3 Orion Maritime Surveillance Aircraft and 27 Harpoon sea***skimming anti ship missiles from U.S. Israel was one of the selected fewnations, a group that also included France and Russia, that did not condemnIndia's 1998 Pokhran-II nuclear tests. In 2008, Israel surpassed Russia as thelargest arms suppliers to India.

In march 2011, defense news reported that India is about to buy 8356Israeli spike anti-tank missiles, 321 Launchers, 15 training simulators andperipheral equipments, for a one billion dollar deal, with Israel's Rafaeladvanced defense systems.

In 2003, Israel's Ministers of Science and Technology said that, Israelwas interested in strengthening science and technology ties with Indiaconsidering that the latter had a rich base of Scientists and Technologists andthe two countries could benefit by synergizing their activities. In an agreementsigned on May 30, 2005 India and Israel pledged to set up a fund to encourageinvestment and Joint industrial ventures. According to Press Trust of India thereare five priority areas for enhanced collaboration "Nano- Technology,Biotechnology, Water Management, Alternative energy and space aeronautics."In March 2009 India launched the Risat-2 which is based on the technologyemployed in Israel's Tec Sar. The satellite has the capacity to take highresolution images at night and can carry out reconnaissance operations eventhrough a dense cloud cover. Most Indian satellites currently in operation lackof these capabilities. The decision to purchase the satellite was in the wake ofthe 2008 Mumbai Attacks the 300 Kg Risat-2 was successfully launched byIndia's PSLV rocket in April 2009.

More than 40,000 Israelis, mostly youth, after finishing their militaryservice, visit India, specially Himalayas, Dharamshala. (Himachal Pradesh) Indian tourists were alsothe biggest spenders in Israel with an average of $ 1,364, out ranking theaverage tourist expenditure in Israel of $ 1,091.

India is in dire need today to reform its intelligence apparatus and addteeth to its counter intelligence and counter terrorism responses. Israel hasexpressed its readiness to assist in these fields and can be excepted to provideblueprints appropriate to Indian-requirements. India's nationalinterest areparamount and these dictatethe enhancement of India- Israel strategiccooperation. In terms of strategically educating it self from Israeli experience,India could learn to have the will to use power, unapologetically.

References:-

1. Area of Israel – 22145 Km^2 and India – 32,87263 Km^2
2. Per Capita Income of Israel, 44060 dollars in 2021. Per Capita income of India 7220 dollars in 2021.
3. Balfore Declaration – National home for Jews in 1917.
4. After the Battle of Plassey 1757 India become the colony of Britishers.
5. India had to fought the war of 1947, 1962, 1965, 1971 and 1999.
6. Israel had to fought the war of 1948, 1967, 1973 against Arabs.

समाज में बीड़ी उद्योगों के प्रति बढ़ती संभावनाएँः श्रमिकों के विशेष संदर्भ में

जुगुल किशोर सिंह
शोधार्थी
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट, सतना (म.प्र.)

सारांश– बीड़ी उद्योग क्योंकि एक कुटीर उद्योग है इस कारण इस उद्योग में श्रमिकों का योगदान अधिक होता है। श्रमिको की स्थिति काफी शोचनीय है क्योंकि श्रमिकों का विकास नही हो पाता तथा वह घर या कारखानों पर ही इस कार्य को करने लगतें है। दुनिया से अनभिज्ञ रहतें है। इसी कारण वह आज भी पिछड़े लोगो में गिने जाते है। और ज्यादातर श्रमिक अशिक्षित होतें है। इसके साथ अशिक्षित श्रमिक कम मजदूरी पर भी कार्य करते है क्योंकि उन्हे इस बात का ज्ञान नही होता है कि सरकार से मजदूरी कितनी निर्धारित कि है। और ठेकेदार इस बात का नाजायज फायद उठाता है। तथा कम मजदूरी में अधिक बीड़ी निर्माण करवाता है। छटनी में कई बीड़िया निकाल देता है। ठेकेदार 1000 बीड़ी में 100 बीड़ी छटनी करते समय निकाल देता है। इसका मूल्य 5रूपये काटता है। इसके अलावा तेंदू पत्ती कम देना, तम्बाकू कम देना इत्यादि तरीके से ठेकेदार श्रमिकों का शोषण करते है। तथा अनपढ़ या कम पढ़े लिखी होने के कारण उन्हे अपने अधिकारो एवं सरकार द्वारा निर्धारित मजदूरी के बारे में नही जानकारी होती है।

मूल्य शब्दः बीड़ी श्रमिक, आर्थिक स्थिति, तम्बाखू, वैश्वीकरण।

परिचय

बीड़ी (एक स्वदेशी धूम्रपान उत्पाद ने तेंदू के पत्ते के सूखे, आयताकार टुकड़े को 0.15–0.25 ग्राम सूखे, फ्लेक्ड तम्बाकू और एक धागे से सुरक्षित किया) भारत में सबसे आम स्मोक्ड तम्बाकू उत्पाद है। भारत में लगभग 7.7% वयस्क बीड़ी का सेवन करते हैं, जिसकी बाजार हिस्सेदारी सभी धूम्रपान उत्पादोंका 85% है। निर्माण प्रक्रिया अपने शुरुआती दौर में बीड़ी उद्योग काफी हद तक संगठित क्षेत्र तक ही सीमित था लेकिन धीरे–धीरे यह असंगठित क्षेत्र में स्थानांतरित हो गया। इस बदलाव का श्रेय संगठित क्षेत्र पर सख्त सरकारी नियमों, विनियमों और नीतियों और असंगठित क्षेत्र में कर उदारीकरण को दिया गया। वर्तमान में, देश में कार्यरत बीड़ी निर्माण इकाइयों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। (ए) पंजीकृत कंपनियां और (बी) अपंजीकृत कंपनियां। पंजीकृत कंपनियाँ प्रति वर्ष 2 मिलियन से अधिक ब्रांडेड बीड़ी का उत्पादन करने वाली बड़ी संस्थाएँ हैं, जो अपने उत्पाद पर उत्पाद शुल्क का भुगतान करने के लिए बाध्य हैं और श्रम कानूनों का पालन करने के लिए कानूनी रूप से बाध्य हैं; जबकि, अपंजीकृत कंपनियों को कर भुगतान से छूट दी गई है, क्योंकि वे प्रति वर्ष 2 मिलियन बीड़ी का निर्माण करती हैं। हालांकि, 2019 में नई जीएसटी नीति के साथ, रू. 4 मिलियन (USD 58114; 1USD = 68.83) के टर्नओवर वाले उद्यमों को वर्ष 2019–2020 से कर से छूट दी गई है। इस नए मानदंड की शुरुआत के साथ, लगभग 98 बीड़ी निर्माण इकाइयों का % टैक्स ब्रैकेट से बाहर रहेगा।

जबकि भारत के ग्रामीण और अर्ध–शहरी क्षेत्रों में बीड़ी उद्योग देखे जाते हैं, पूंजी निवेश, बीड़ी उद्योग का आकार, रोजगार का आकार, लिंग और श्रमिकों की बाल संरचना के संदर्भ में भिन्नताएं मौजूद हैं। इसके अलावा, उद्योग के भीतर, रोज़गार के प्रकारों में भिन्नताएँ देखी जाती हैं, जैसे कि, पूर्णकालिक, अंशकालिक और संविदात्मक कर्मचारी। बीड़ी क्षेत्र ने 2005–2006 में भारत में कुल रोजगार का लगभग 0.9% योगदान दिया। उसी वर्ष, बीड़ी उद्योग में 4.16 मिलियन कर्मचारी कार्यरत थे और उनमें से 3.42 मिलियन कर्मचारी पूर्णकालिक कार्य में लगे हुए थे जबकि 0.74 मिलियन श्रमिक

अंशकालिक कार्यरत थे। महिलाएं और बच्चे इसके कार्यबल का 90% हिस्सा हैं। और मुख्य रूप से बीड़ी रोलिंग में उनकी दक्षता के कारण कार्यरत हैं। पुरुषों को इस उद्योग में नियोजित किया जा रहा है लेकिन मुख्य रूप से कारखाने प्रणाली में, जबकि 90% महिलाएं बीड़ी बनाने की घरेलू प्रणाली में शामिल हैं।

अगर वह अन्य कार्य करना भी चाहती है तो उन्हे उपेक्षा की नजर से देखा जाता है। अतः ये महिलाए अपने आप को उपेक्षित एवं शोषित महसूस करती हैं। इन महिलाओं को उच्च वर्ग के लोग या पढ़े लिखे लोग उपेक्षा की नजर से देखते है। वे महिलाए उपेक्षा के डर से भी उसी कार्य को जीवन पर्यान्त तक करती रहती है। बीड़ी व्यवसाय का कार्य जीवन पर्यान्त तक करती रहती है और अपने बच्चो का भी इसी कार्य में लगती हैं इससे उनकी सामाजिक स्थिति सुधरती नही है। वह जहां है वही पर रह जाती है।

महिला वर्ग के सामने सबसे बड़ी मजबूरी अपने परिवार की पालन–पोषण की होती है। चूकि कम पढ़ी–लिखी होने के कारण वह अन्य व्यवसाय नही कर सकती इसलिए वह बीड़ी निर्माण करना प्रारंभ कर देती है। इसके अलावा अन्य व्यवसाय में प्रशिक्षण एवं पूॅजी की आवश्यकता होती है। जो उसके पास उपलब्ध नही होता है चूॅकि बीड़ी व्यवसाय में पूॅजी की आवश्यकता नही ठेकेदार इन्हे कच्चा माल उपलब्ध करता है। तथा बीड़ी निर्माण के बाद इन्हे मजदूरी देता है। इसी कारण ज्यादातार महिलाओं को झुकाव बीड़ी निर्माण कार्य की होता हैं बढ़ती बेरोजगारी, बढ़ती महंगाई इत्यादि के कारण वह बीड़ी निर्माण का कार्य करती है।

थामस के अनुसार "श्रम से शरीरिक व मस्तिष्क के उन समस्त मानवीय प्रयासों का बोध है, जो कि परिश्रम पाने की आशा से किये जाये।"

इस प्रकार श्रमिक मानवीय प्रयासों से संबंधित है, ये प्रयास शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इन प्रयासों का उद्देश्य शारीरिक या मानसिक लाभ प्राप्त करना होता है। यह लाभ शारीरिक मानसिक लाभ अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष पूर्णतः या शाब्दिक किसी भी रूप में हो सकता है।

चूंकि बीड़ी उद्योग कर लाभों का आनंद लेना जारी रखता है, यकीनन, बीड़ी श्रमिकों के हितों और रोजगार की रक्षा के लिए, उद्योग की समग्र रोजगार संरचना और भारत में बीड़ी उद्योग के श्रमिकों द्वारा अर्जित मजदूरी को समझना आवश्यक है।

बीड़ी श्रमिकों पर वैश्वीकरण का प्रभाव

विभिन्न सामाजिक समूहों एवं वर्गों पर वैश्वीकरण का गहरा प्रभाव पड़ा है, विशेषकर बीड़ी श्रमिक वर्ग को इस प्रक्रिया ने बहुत दयनीय स्थिति में ला दिया है। विश्व के देशों का बड़े पैमाने पर आर्थिक एकीकरण के फलस्वरूप मजदूरों की सुरक्षा, संरक्षण एवं उनके कल्याण के व्यापक विधिक ढांचे में बदलाव आया और वे उद्योगपतियों एवं पूंजीपतियों की शर्तों के अधीन हो गये हैं। बीड़ी श्रमिक कानून का कोई भी महत्व नहीं रह गया और वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने बीड़ी श्रमिकों को असहाय सिथति में ला दिया है।

वस्तुतः बीड़ी श्रमिक कानून का विस्तृत ढांचा इसलिए खड़ा किया गया था कि बीड़ी श्रमिकों के हितों, स्वास्थ्य एवं सुरक्षा की गारंटी दी जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) ने इस संदर्भ में बीड़ी श्रमिकों के लिए 'सुगम्य कार्य की धारणा पर बल दिया था किंतु वैश्वीकरण की संरचना एवं प्रक्रिया ऐसी रही है कि उसका बीड़ी श्रमिकों एवं बीड़ी श्रमिक युग पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। कार्य एवं उत्पादन की ढ़ीली–ढाली बाजारू प्रवृतियों ने वैशिवक स्तर पर असमानता, बेरोजगारी, असुरक्षा आदि में बड़े पैमाने पर वृद्धि की। राज्य को कमजोर करने की प्रवृति ने समुचित कार्य की धारणा को कमजोर कर दिया।

बीड़ी श्रमिकों पर वैश्वीकरण के प्रभाव के संदर्भ में, इसके प्रति आशंकाएं भी हैं और अपेक्षाएं भी। उल्लेखनीय है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जहां बड़े पैमाने पर विस्थापन व बेरोजगारी बढ़ी है, सामाजिक सुरक्षा में कमी हुइ है, वहां अर्थव्यस्था के विविधिकरण से रोजगार के अवसर, आय में वृद्धि, कार्य के मानवोचित्त दशाओं की व्यवस्था को इसके दूरगामी लक्ष्य के रूप में देख

सकते हैं। फिर भी विद्वानों के बीच इस बात को लेकर एकमतता है कि वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप आरंभिक तौर पर बीड़ी श्रमिक वर्ग को सबसे ज्यादा क्षति पहुंची है।

वैश्वीकरण के फलस्वरूप बीड़ी श्रमिकों के नुकसान के तथ्य पर विकसित एवं विकासशील देशों के मजदूर एवं मजदूर संघों ने ध्यान आकृष्ट किया है। विकसित देशों में इसका संबंध आउटसोर्सिंग एवं पूंजी के स्थानान्तरण से है। बेरोजगारी में वृद्धि के अतिरिक्त, खतरा सामाजिक कूड़ेदान के सृजन का भी है जो विकासशील देशों में निम्न कार्य परिसिथतियों के अन्तर्गत निर्मित वस्तुओं का विकसित देशों के साथ निर्यात की सिथति में उत्पन्न हो सकता है। इतना ही नहीं, विकसित एवं विकासशील देशों की व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा तथा निम्न स्तरीय बीड़ी श्रमिक स्तर के कारण उत्पाद वस्तुओं में गिरावट का भी भय है। भारत जैसे विकासशील देशों में वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप मौजूदा उद्योगों में रोजगारों में कमी हुइ। वैश्वीकरण की मांग बाजारू शकितयों के सुदृढ़ किए जाने की है। विकासशील समाजों की अर्थव्यवस्थाओं ने व्यापक पूंजी निवेश, विशेषकर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को आकर्षित करने के लिए बीड़ी श्रमिक कानूनों के महत्व को कम कर दिया है, श्रम का कोई महत्व नहीं रह गया वो मनमानी शर्तों के अधीन हो गया। रोजगार सुरक्षा एवं सामाजिक सुरक्षा के तथ्य की अनदेखी की गई है। समग्रतः इसने रोजगार की गुणवत्ता का ह्रास कर दिया है।

अध्ययन का महत्व

भारत में बीड़ी–श्रमिकों की समस्या राष्ट्र के समक्ष दृष्टिगोचर हो रही है, प्रमुख समस्याओं में से एक गरीबी, जनसंख्या विस्फोट, निरक्षरता व कमजोर आर्थिक स्थिति के कारण देश के शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में धन कमाने के लिए लगा दिया जाता है। जहाँ इन बच्चों को शारीरिक एवं मानसिक शोषण होता है एवं उनकी एक बड़ी संख्या शिक्षा प्राप्ति के अभाव में रह जाती है। जिस पीढ़ी को देश का भविष्य माना जाता है उनकी एक बड़ी संख्या न तो विद्यालय जा पाती है और न ही अपने बचपन को देख पाती है। बीड़ी–श्रमिकों की समस्या के समाधान हेतु समाज के सभी वर्गों द्वारा सामूहिक प्रयास किये जाने की आवश्यकता है।

परिणाम और विचार – विमर्श

बीडी श्रमिकों को तरजीह देने का कारण (तालिका नंबर 1)

क्र.	कारण	उत्तरदाता	प्रतिशत
1	बेहतर आय	6	6.7
2	बक्शीश	2	2.2
3	कोई और काम नहीं	74	82.2
4	केवल ज्ञात कौशल	8	8.9

उपरोक्त तालिका (1) से यह स्पष्ट है कि भारी बहुमत (82.2 प्रतिशत) का कहना है कि उनके लिए कोई अन्य नौकरी उपलब्ध नहीं है, बीड़ी कार्य को प्राथमिकता देने का कारण है और केवल (2.2 प्रतिशत) का कहना है कि बोनस और अन्य प्रोत्साहन के कारण बीड़ी कार्य पसंद करते हैं।

बीड़ी श्रमिकों से मासिक आय (तालिका संख्या 2)

क्र.	प्रति माह आय	उत्तरदाता	प्रतिशत
1	3,000 रुपये से कम	31	34.4
2	3,001 से 4,000	24	26.7
3	4001 से 5,000	27	30.0
4	5,000 से ऊपर	8	8.9

उपरोक्त तालिका (2) दर्शाती है कि अधिकांश उत्तरदाता (34.4 प्रतिशत) केवल 3,000 रुपये प्रति माह से कम कमाते हैं। कुछ उत्तरदाता (26.7 प्रतिशत) प्रति माह 3,000 रुपये से 4,000 रुपये के बीच कमाते हैं। इसलिए, अधिकांश उत्तरदाता प्रति माह 4,000 रुपये से कम कमाते हैं। केवल कुछ (8.9 प्रतिशत) प्रति माह 5,000 रुपये से अधिक कमाते हैं।

बीड़ी श्रमिकों द्वारा सामना किए जाने वाले स्वास्थ्य खतरों के प्रकार
(तालिका संख्या 3)

क्र.	स्वास्थ्य समस्याएं	उत्तरदाता	प्रतिशत
1	दमा	21	26.3
2	पीठ दर्द	39	48.8
3	आँख की समस्या	8	10.0
4	कोई और	12	15.0

तालिका (3) से स्पष्ट है कि अधिकांश बीड़ी श्रमिकों (48.8 प्रतिशत) को बीड़ी कार्य के कारण कमर दर्द, कुछ (26.3 प्रतिशत) को दमा और कुछ (10 प्रतिशत) को आँखों की समस्या है।

बीड़ी श्रमिकों की संतुष्टि और उनकी नौकरी (तालिका संख्या 4)

क्र.	संतोषजनक स्तर	उत्तरदाता	प्रतिशत
1	संतुष्ट	28	31.1
2	संतुलित	23	25.6
3	असंतुष्ट	27	30.0
4	अत्यधिक असंतुष्ट	12	13.3

उपरोक्त तालिका (4) से पता चलता है कि उच्चतम (31.1 प्रतिशत) उत्तरदाता सिर्फ संतुष्ट हैं, लेकिन दूसरी ओर, बीड़ी श्रमिक असंतुष्ट हैं, अपनी नौकरी से अत्यधिक असंतुष्ट क्रमशः 30.0 प्रतिशत और 13.3 प्रतिशत हैं।

अध्ययन द्वारा किए गए निष्कर्ष निम्नलिखित हैं:

- बीड़ी श्रमिकों को अन्य बेहतर रोजगार न मिल पाना बीड़ी रोलिंग करने का कारण है।
- अधिकांश बीड़ी श्रमिक प्रति माह 4,000 रुपये से कम कमाते हैं।
- पीठ दर्द और दमा सबसे अधिक व्यावसायिक रोग हैं जो बीड़ी श्रमिकों के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं।
- दो तिहाई बीड़ी श्रमिकों की राय उदारवादी है और वे अपने कार्य के प्रति असंतुष्ट हैं।
- कंपनियों और ठेकेदारों से बीड़ी श्रमिकों को दैनिक काम मिलता है।
- बीड़ी बनाने से श्रमिकों के स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है।
- बीड़ी कंपनियाँ अच्छा वेतन नहीं देती हैं।

निम्नलिखित सिफारिशें हैं जो अध्ययन द्वारा सुझाई गई हैं:

सुझाव किसी भी शोध अध्ययन का महत्वपूर्ण अंग होता है शोधार्थी अपने शोध अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर शोध कार्य के उपरान्त जो तथ्य प्रकट करता है वही सुझाव है बीड़ी–श्रमिक को शोध अध्ययनों के परिप्रेक्ष्य में सुधारात्मक सुझावों का विशेष महत्व होता है क्योंकि इन्हीं सुझावों के आधार पर शोध समस्या से सम्बन्धित व्यक्तियों को मार्गदर्शन मिलता है। अतः शोधार्थी ने अपने शोध अध्ययन के आधार पर बीड़ी श्रमिकों के कल्याण सम्बन्धी कुछ सुझाव दिये हैं। बीड़ी श्रमिकों की समाज शास्त्रीय अध्ययन में सुझाव के तौर पर बिन्दुवार समझाने का प्रयास किया गया है:–

- राज्य और केंद्र सरकार के प्राधिकरण बीड़ी श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाने के लिए और कदम उठाएंगे।
- बीड़ी कंपनियाँ बार–बार चिकित्सा जांच आयोजित करेंगी और अपने कर्मचारियों के स्वास्थ्य की निगरानी करेंगी।
- बीड़ी अपने कर्मचारियों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए सुरक्षात्मक उपकरण जैसे मास्क, दस्ताने आदि प्रदान कर सकती है।
- बीड़ी श्रमिक ट्रेड यूनियनों से संबद्ध होंगे और कंपनियों तथा नीति निर्माताओं से अपने अधिकारों की मांग करेंगे।

निष्कर्ष

भारतमें विशेष रूप से महिलाओं के लिए बीड़ी कार्य से होने वाली आय आय का एक प्रमुख स्रोत है। बीड़ी श्रमिकों द्वारा अर्जित मजदूरी अन्य विनिर्माण उद्योगों की तुलना में कम है। बीड़ी कार्य स्वास्थ्य को बड़े पैमाने पर प्रभावित करती है। भारत में बीड़ी श्रमिक बीड़ी बनाने से संतुष्ट नहीं हैं और परिवार के अन्य सदस्यों को बीड़ी उद्योग के लिए प्रोत्साहित नहीं कर रहे हैं। खाड़ी देशों से कमाई के बाद जैसे ही बीड़ी श्रमिकों के जीवन स्तर में सुधार होता है, वे नौकरी छोड़ देते हैं। इसलिए, बीड़ी श्रमिकों के परिवार की युवा पीढ़ी वैकल्पिक और विदेशी नौकरियों में जाना पसंद करती है। भारत में बीड़ी उद्योग ने हाशिए के समुदाय की आजीविका में योगदान दिया है।

शोधार्थी ने शोध के दौरान पाया कि भारत में बीड़ी श्रमिकों परिवार स्वास्थ्य एवं शिक्षा से सम्बन्धित कई समस्या दृष्टिगोचर हो रही थी। भारत में श्रम करने वाले बीड़ी श्रमिकों की संख्या लगभग 2175 के करीब है। बीड़ी व्यवसाय में महिला श्रमिको की स्थिति दयनीय है अतः इसके लिए सरकार ने भी कदम उठाये है जैसे बीड़ी श्रमिकों के लिए बीड़ी अस्पताल का निर्माण करवाया जिसमें मुफ्त इलाज तथा मुफ्त दवाइयॉ प्रदान की जाती है। बीड़ी मजदूरों के बच्चों को अधिक छात्रवृत्ति देने की व्यवस्था सरकार द्वारा की गई है। तेंदू पत्ता संग्राहकों को भी जीवन बीमा योजना के तहत अनेकों प्रकार की सुविधाऐं प्रदान की गई है।

संदर्भ

1. सक्सेना, एस.सी. (1992): श्रम समस्यायें एवं सामाजिक सुरक्षा, रस्तोगी पब्लिकेशन शिवाजी रोड, मेरठ।
2. मिश्रा एस.के. एवं पुरी बी.के. (1993): भारतीय अर्थ व्यवस्था हिमालय पब्लिशिंग हाउस ''रामदूत'' डॉ. भले राव मार्ग, गिरगाँव मुम्बई।
3. यूनीसेफ– दुनिया के बच्चों की स्थिति (1996) यूनीसेफ के लिए आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित।
4. सिंह आभा (1998) – यूनाइटेड नेशंस एण्ड द राइट ऑफ ए चाइल्ड लेबर इन इण्डियाः नई दिल्लीः जे.एन.यू.।
5. वासु, के. एण्ड वेन, पी.एच. (1998): द इकोनॉमिक्स ऑफ चाइल्ड लेवर अमेरिकन इकोनॉमिक्स रीव्यू, नं. 3:412–27
6. राय रंजन (2008): एनालिसिस ऑफ चाइल्ड लेबर इन पेरू एण्ड पाकिस्तानः ए कम्परेटिव स्टडीः जर्नल ऑफ पापुलेशन इकोनॉमिक्स नं. 13: 3–19
7. खन्ना के.पी. (2001)– इकोनॉमिक्स ऑफ चाइल्ड लेबर नई दिल्ली दीप एण्ड दीप।
8. देव महेन्द्र एस. एण्ड रवि सी. (2002) – फुट, सिक्योर्टी एण्ड चाइल्ड वर्क इन साउथ इण्डिया डिटरमीनेशनस एण्ड पालिसीज इन रामाचन्द्रन एण्ड मासन इड्स (2002): 192–215

9. एरिक बी. इण्डमन्स (2007) – ''चाइल्ड लेबर'' वर्किंग पेपर आई.डी.: 988 सोशल साइन्सेस

10. वासु के दास, दत्ता बी. (2009) – चाइल्ड लेवर एण्ड हाउसफोल्ड वेल्थः थ्योरी एण्ड इम्पीरिकल एवीडेन्स ऑफ इन्वर्टेड– यू. जर्नल ऑफ डिपार्टमेन्ट इकोनॉमिक्स।

11. सिंह, राजेन्द्र– भारतीय अर्थव्यवस्था में गरीबी उन्मूलन की समस्याएँ राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली 1989

12. मोनिका अरोड़ा एट अल (2020) द इंडियन बीड़ी इंडस्ट्रीः ट्रेंड्स इन एंप्लॉयमेंट एंड वेज डिफरेंशियल्स। सार्वजनिक स्वास्थ्य में फ्रंटियर्सः मूल शोध।

13. सेंथिल कुमार, एन. सुब्बुरथिना भारती, पी. (2018) तमिलनाडु, भारत में महिला बीड़ी रोलर्स के बीच व्यावसायिक स्वास्थ्य खतरों पर एक अध्ययन।

14. श्रीनिवासन, एस. और पोन्नुस्वामी इलांगो (2012) खजामलाई, तिरुचिरापल्ली, तमिलनाडु में महिला बीड़ी श्रमिकों की सामाजिक–आर्थिक स्थितियों पर एक अध्ययन। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इनोवेटिव रिसर्च एंड डेवलपमेंट।

15. जोजो जॉन और संध्या गौतम (2017) तमिलनाडु में बीड़ी श्रमिकों की जमीनी हकीकत। स्वास्थ्य और सामाजिक न्याय केंद्र।

रवीन्द्र कालिया की कहानियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

रिपुंजय कुमार सिंह
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

रवीन्द्र कालिया की कहानियों की संवेदना के समुचित विश्लेषण के लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी कहानियों की संवेदना से भलि–भांति परिचित हों। रवीन्द्र कालिया की कहानियों की संवेदना को हम संग्रहवार इस तरह विश्लेषित कर सकते हैं–

अकहानी :

1. 'पनाह'

हिन्दी में साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर अनेक कहानियाँ लिखी गयी हैं। साम्प्रदायिकता को पंजाबी रचनाकारों ने बेहद करीब से देखा था, झेला था और महसूस किया था। इसलिए साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर लिखने वालों में पंजाबी रचनाकारों की संख्या अधिक है। मोहन राकेश, अज्ञेय, भीष्म साहनी, यशपाल, कृष्णा सोबती आदि ने विभाजन को करीब से देखा था। इसलिए इन्होंने साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर अनेक कहानियाँ लिखीं हैं। रवीन्द्र कालिया ने भी साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर अनेक कहानियाँ लिखी हैं। 'पनाह' ऐसी ही कहानी है। 'पनाह' कहानी में हिन्दू मुस्लिम सांप्रदायिक विद्वेष को बेहद सूक्ष्मता से विश्लेषित करती है। 'पनाह' कहानी हिन्दुस्तान के बहुसंख्यक हिन्दू मुसलमानों पर अत्याचार करते दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में कहानी साम्प्रदायिकता का विरोध करती हुई हिन्दू मुस्लिम एकता का सन्देश देती है, ''खून चाहे हिन्दू का हो या मुसलमान का, खून बदन में चुपचाप बहता रहे, इससे बड़ी नियामत क्या हो सकती है।''[1] कहानी का स्वप्न है, ''इंसान बन के जिओं और दूसरों को जीने दो। कहानी में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का भी विरोध है। मुस्लिम पात्र अपने समुदाय के लोगों से कहता है, ''यह नहीं समझते, दुनिया आगे जा चुकी है, कुछ टुकड़ों के लिए इंसान को मार डालते हो। सालो, मेहनत करो।''[2] कहानी में साम्प्रदायिकता के खिलाफ लड़ने के लिए इंसानों और सरकार का आह्वान किया गया है।

2. 'मैं'

'मैं' कहानी व्यक्ति के गुणों एवं अवगुणों के साथ उसके व्यक्तित्व के सम्यक मूल्यांकन की कहानी है। व्यक्ति शातिर इतना है कि पापा के दफ्तर और माँ के सत्संग जाने पर घर में अपने छोटे भाई के लिए अमृतधारा मांगने आई लड़की को अकेला पाकर उसे बलात चुम्बन ले लेता है और सीधा इतना कि लड़की के प्रतिरोध स्वरुप रोने पर वह खुद भी रोने लगता है। व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में आकर दैनंदिन जिन्दगी में आने वाली परेशानियों का अभ्यस्त हो जाता है। घंटों क्यू में खड़े रहने के बावजूद उसे व्यवस्था से ऊब नहीं होती। वह अन्याय के खिलाफ लड़ता भी है, जेल जाता है और सिक्यूरिटी के पच्चीस रुपये देकर वापस घर आता है। वह अपनी पत्नी को पच्चीस रूपये का झूठा हिसाब भी दे देता है। जबकि पत्नी की नजर में वह जरूरत से ज्यादा सीधा आदमी है।

3. 'सड़क पर अंधेरा था'

'सड़क पर अंधेरा था' कहानी एक अज्ञात भय, कुंठा, संत्रास, अजनबीपन, और ऊब को व्यक्त करती है। कथा–नायक अज्ञात भय से संत्रस्त है। उसके डरने का आलम यह है कि वह अपनी परछाईं से भी डरता है, ''जहां चूहे हों, वहाँ सांप नहीं होते। इसने कहा। इसने कई बार कहा मगर फिर भी यह बार–बार पीछे मुड़कर देख लेता था। एक बार इसे लगा कि इसके बाजू से कोई चीज रेंगकर इसके आगे निकल गयी है। वह सांप नहीं, वह परछाईं है, मेरी ही परछाईं।''[3]

डरना कथानायक का जन्मजात संस्कार है। ''पुलिस से यह बचपन से डरता आया है।''[4] कथानायक की भयग्रस्तता के अनेक प्रसंग कहानी में आते हैं। सायरन बजने की आशंका मात्र से वह पत्नी समेत खाट के नीचे छिप जाता है। वह ''अपनी पत्नी से पूछता है कि क्या उसने सचमुच सायरन सुना था।''[5] जबकि उसकी पत्नी जानती है कि उसका पति बम के डर से नहीं बल्कि ''सांप से डर रहा है और उसे किसी ने यह भी बताया है कि इस मकान में भूत–प्रेत रहते हैं।''[6]

व्यक्ति सिर्फ सड़क पर अंधेरे में, घर में ही नहीं डरता बल्कि अपने कार्यस्थल पर भी आशंकित रहता है, ''अगर सस्पेंशन की कोई बात नहीं थी तो प्रिंसिपल ने मेरी तरफ घूर कर क्यों देखा था।''[7] आशंकाग्रस्त व्यक्ति के मनोविज्ञान का यथार्थ रूपांकन करने में कहानीकार को सफलता मिली है।

4. 'सत्ताईस साल की उम्र तक'

'सत्ताईस साल की उम्र तक' महानगरीय सौन्दर्य बोध की महत्त्वपूर्ण कहानी है। व्यक्ति जब छोटे शहर में रहता है तो उस पर एक अदृश्य मर्यादा का बंधन रहता है। वह सिगरेट, शराब, प्रेम, महिला संसर्ग आदि कथित गलत कार्यों से दूर रहता है। कथानायक जब छोटे शहर में रहता है तो वह स्वयं स्वीकार करता है कि ''उसने न तो कभी सिगरेट ही पी थी और न ही प्रेम किया था।''[8] व्यक्ति जब छोटे शहर से बड़े शहर में जाता है तो एक अज्ञात भय से ग्रस्त हो जाता है, ''रात को अचानक नींद खुल जाने पर जब इसे अकेलापन महसूस होता है या उसके बाद डर लगता है तो यह डर में ही अंधेरी सीढ़ियाँ चढ़कर छत पर पहुँच जाता है और आस–पास के लोगों को सोते हुए देखता है।''[9] छोटे शहरों में रहते हुए सिगरेट शराब और महिलाओं से कोई संपर्क न रखने वाला व्यक्ति भी बड़े शहरों में जाकर स्वच्छंद होकर अवैध शराब भी पीता है और समुद्र तट पर महिलाओं को भी निहारता है। शराब और सिगरेट न पीने की सलाह देने वाली महिलाएँ भी शराब पीने लगती हैं। महानगर में जाकर व्यक्ति भीड़ का हिस्सा बन जाने के लिए अभिशप्त है। यह कहानी मध्यवर्गीय युवा का यथार्थ मनोविश्लेषण है।

5. 'सबसे छोटी तस्वीर'

यह प्रेम संवेदना पर आधारित कहानी है। यह कहानी प्रेमचंद की कहानी 'दुनियां का सबसे अनमोल रतन' की याद दिलाती है। नायिका की आँखों में नायक की निर्मित तस्वीर ही सबसे छोटी तस्वीर है, ''लड़की आँखें मूंद लेती। जब वह आंखें खोलती है लड़का बहुत पास से लड़की की भूरी आंखों में अपना चेहरा देखने लगता, जैसे आईना देख रहा हो। गौर से देखने पर उस लड़की की आँखों में उस लड़के को अपना चेहरा पहचाना हुआ–सा लगता। उसे लगता, उस लड़की की आंखों में वह ओबी को देख रहा है। वह कहता कि उसकी इससे छोटी तस्वीर नहीं हो सकती।''[10]

6. 'एक प्रामाणिक झूठ'

'एक प्रामाणिक झूठ' कहानी किसी भी झूठ को सत्य साबित करने के लिए उसमे भावुकता के मिश्रण का समर्थन करती है। जब 'मैं' पात्र अपने मित्र के साथ भाग जाने की बात कहता है और उसका मित्र कहता है कि मुझे लगता है तुम झूठ बोल रहे हो। तब 'मैं' पात्र कहता है, ''अगर मैं झूठ बोल रहा था तो मैं भावुक क्यों हो गया था, मेरी आवाज क्यों कांप रही थी ?''[11] भावुकता का मिश्रण झूठ को प्रामाणिकता प्रदान करता है।

7. 'थके हुए'

'थके हुए' कहानी 'ऊब' पर आधारित है। यह दफ्तरों में नौकरी करने वाले युवाओं की कहानी है, जो यह तक नहीं तय कर पाते कि उन्हें कम्पटीशन की तैयारी करनी चाहिए या लड़की का पीछा। अपने भविष्य ही नहीं वर्तमान के प्रति एक ऊहापोह का भाव है। यह जीवन को बहुत गंभीरता से न लेने वाली पीढ़ी है, जो दफ्तरों में अपनी जिन्दगी काटने के लिए अभिशप्त है। जिन्हें अपनी नौकरी बचाने के लिए अपने बॉस की खुशामद करनी पड़ती है। वास्तव में ऊब, कुंठा, संत्रास ही युवा पीढ़ी का यथार्थ है। इनके जीवन में सिर्फ चर्चा करने के लिए लड़की, चापलूसी के लिए बॉस और पीने के लिए सिगरेट और किसी तरह एक–एक दिन सुरक्षित काटने पर एक सुकून का भाव है। वास्तव में इनकी जिन्दगी में कोई उमंग नहीं है।

8. 'विकथा'

'विकथा' कहानी मनोविश्लेषण पर आधारित है। कहानी में कहानीकार ने युवा अन्तर्मन का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस कहानी पर फ्रायड का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। कथानायक सोचता है, ''जो आदमी बैठा है और उसकी बीवी, जो ओनियन उत्तपम खा रही है, मैं उसके पास से गुजरते हुए उसके झीने ब्लाउज की ओर देखते हुए सोचा, (इसने कितना तंग ब्रेसियर पहना हुआ है) अगर मैं उसे छू दूं तो यह क्या करेगी ? इसका पति क्या करेगा ? शायद यह ओनियन उत्तपम खाना बंद कर देगी और इसका पति मुझे गिरेबान से पकड़ लेगा, झापड़ भी लगा सकता है। मुझे अपने में यह बात बहुत फनी लगी कि बीवी तो खाना बंद कर देगी और पति मुझे गिरेबान से पकड़ लेगा, जबकि मैंने उससे कुछ नहीं कहा होगा।'' 'विकथा' स्थापित कथा–मूल्यों का सशक्त प्रतिरोध है। शीर्षक से कथा वैशिष्ट्य तक यह प्रतिरोध देखा जा सकता है। अकहानी की समस्त विशेषताएँ विकथा में समाहित हैं।

9. 'धक्का'

'धक्का' कहानी अजनबीपन और अनजाने भय को अभिव्यक्त करती है। व्यक्ति अपने परिवेश के प्रति ही अनजान है। उसे यह लगता है कि कोई व्यक्ति उसकी हत्या कर सकता है। घुटन, संत्रास और अकेलेपन को व्यक्त करती है। व्यक्ति स्वयं के अस्तित्व के बारे में अनिश्चितता के दौर से गुजर रहा है। उसे यह भी नहीं मालूम कि घर में रखा हुआ सामान किस जगह है, मसलन ग्लूकोज, बिजली के मेन स्विच की जानकारी तक उसे नहीं है। परिवेश में एकाकीपन होने के कारण उसका कोई निकटस्थ सहयोगी तक नहीं है, जिससे वह अकेलेपन की स्थिति में मदद पा सके। अकेलेपन का आलम यह है कि स्वयं की पत्नी पति के जीवन से ज्यादा अपनी नींद को महत्व देती है। महानगरीय समाज में सिर्फ बड़े लोग ही नहीं, नौकर तक ऊब झेलने के लिए अभिशप्त हैं।

10. 'प्रेम'

'प्रेम' में विवाह से पूर्व कामकाजी प्रेमिका और प्रेमी की भविष्य की योजनाओं और रोज की दफ्तरी जद्दोजहद का चित्रण है। इस कहानी में नायक–नायिका दोनों बिल्कुल थके से, ऊबे से, अनमने से एवं अपने कार्यालय एवं बॉस के प्रति असंतुष्ट से दिखाई पड़ते हैं। कहानी में महानगर में संघर्षरत युवाओं के छोटे–छोटे स्वप्नों की प्रस्तुति है। होटल, रेस्तरां, ऑफिस, , सिनेमा हॉल, बस स्टॉप आदि के इर्द–गिर्द घूमती हुई इनकी जिन्दगी तमाम हो रही है।

11. 'अकहानी'

'अकहानी' में दो युवाओं के व्यर्थ निरुद्देश्य घूमने और निरर्थक बातों एवं भविष्य की योजनाओं का चित्रण है। किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में उलझे युवाओं की कहानी है जो यह तक नहीं तय कर पा रहे हैं कि 'हम पिक्चर देखेंगे या सर्कस या चाय पियेंगे या कॉफी। 'हर चीज के प्रति जिज्ञासा और उत्सुकता का भाव युवाओं में होता है इसलिए महिला की बाँह स्पर्श हो जाने पर लम्बी बहस करते हैं।' 'अकहानी' में युवा पात्रों की थकान और उदासी चित्रित है। रोजमर्रा की बातों को ही कहानीकार ने कहानी की विषयवस्तु के लिए चुना है। सफल कहानीकार वही है जो रोजमर्रा की बातों में से कहानी के लिए विषयवस्तु ढूँढ़ लेता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रवीन्द्र कालिया की कहानियाँ– रवीन्द्र कालिया, पृ0 4–5
2. रवीन्द्र कालिया की कहानियाँ–रवीन्द्र कालिया, पृ0 9
3. वही, पृ0 11
4. रवीन्द्र कालिया की कहानियाँ– रवीन्द्र कालिया, पृ0 12
5. वही, पृ0 13
6. वही
7. वही, पृ0 14
8. वही, पृ0 16
9. वही, पृ0 17
10. रवीन्द्र कालिया की कहानियाँ– रवीन्द्र कालिया, पृ0 22
11. वही, पृ0 26

काव्य कारण विचारः

डॉ0 शशि मौलि नाथ पाण्डेय
विभागाध्यक्ष साहित्य
श्री बलदेवदास हनुमत् संस्कृत महाविद्यालय
उनुरुखाकुटी, सुलतानपुर

काव्यस्यकारणं केवलं काव्यगता प्रतिभेति पण्डितराजाः। कारणत्वं ह्यन्वय-व्यतिरेकतया सिद्ध्यति। प्रतिभा सत्त्वे काव्यसत्त्वम् प्रतिभाया अभावे काव्याभाव इति अन्वयव्यतिरेकयोः स्वरूपम् यद्युच्यते तदा एवं वक्तुं शक्यते यथा कार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धिः। तथैव काव्यकारणतावच्छेदकतया प्रतिभात्वं सिद्ध्यति। उपाधिस्वरूपम् वाऽखण्डमिति मूले पाठो दृश्यते। नागेश भट्टास्तु नीलघटत्वादिवत् सखण्डोपाधिरिति वदन्ति। अखण्डमिति पाठस्तु चिन्त्य इति वदन् अखण्डोपाधितां निराकरोति।

अयं वर्तते विशेषः नैयायिका अभावत्वम् अखण्डोपाधिरिति वदन्ति नीलघटत्वं सखण्डोपाधिरिति च। मन्ये नीलत्वघटत्वयोः पृथक् प्रसिद्धेः नीलघटत्वं सखण्डोपाधिः। किन्तु प्रतिभात्वं कथं सखण्डोपाधिरिति विचारणीयम्। मन्ये प्रतिभाया देवताप्रसादादि-जन्यादृष्टादिना जन्यत्वात्।न तद्वृत्ति प्रतिभात्वस्याखण्डोपाधित्वम्, अभावस्य तु नित्यत्वात् तद्वृत्ति धर्मस्य अभावत्वस्याखण्डोपाधिता।

प्रतिभायाः स्वतन्त्रकारणत्वेनोच्यते 1. देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम् 2. विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ च। त्रयाणां मिलितानां हेतुत्वं न स्वीक्रियते बालादेस्तद्विनाऽपि प्रतिभोत्पत्तेरिति मूले उच्यते। देवताप्रसादाद् ध्रुवस्य प्रतिभोत्पत्तिजातेति भागवते श्रूयते—

स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरिर्ज्ञात्वाऽस्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः।
कृताञ्जलिं कम्बुमयेन पाणिना पस्पर्श बालं कृपया कपोले॥
स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः॥

(श्रीमद्भाग. 4.9.4-5)

स प्रसिद्धो भगवान् हरिः तम् अतद्विदं ध्रुवं विवक्षन्तम् गुणैः स्तोतुमिच्छन्तम् गुणांश्चाजानानम्, अस्य ध्रुवस्य सर्वस्य च प्राणिजातस्य हृद्यवस्थितोऽपि ध्रुवस्य सम्मुखे बहिरप्यवस्थितः सन् कृताञ्जलिं तं बालम् ब्रह्ममयेन वेदात्मकेन कम्बुना शङ्खेन कृपया कपोले पस्पर्श। इत्यन्वयप्रकारः।

एतेन कम्बुस्पर्शेन यज्जातं तदग्रे वर्ण्यते—स ध्रुवः तस्मिन्नेव काले (तदैव) भगवता प्रतिपादितां गिरं दैवीं प्रतिपद्य तदैव च ईश्वरजीवयोः (परात्मनोः) निर्णयं प्राप्य ईश्वरजीवस्वरूप विषये विभ्रमरहितो भूत्वा प्रेम्णा भक्तिभावेन विख्यातकीर्तिं भगवन्तं स्थैर्येण अभ्यगृणात् स्तुतवान्। एतत् वर्णनप्रसङ्गेन ध्रुवस्य कथं काव्यशक्तिः प्रादुरभूदिति स्पष्टं ज्ञायते। ध्रुवो भगवतः गुणकीर्त्यादिविषये न किमपि जानाति स सुस्पष्टया बाचा भाषितुमप्यसमर्थ आसीत्। किन्तु केवलं शंखस्पर्शेन सपद्येव सरस्वती प्रादूरभूदिति तत्काल एव फलितं जातम्। केवलान्महापुरुषप्रसादादेव अदृष्टोत्पत्तिः जातेति सुस्पष्टं भवति आख्यानेन।

केवलमहापुरुषप्रसादात् तज्जन्याददृष्टात् वा न प्रतिभोत्पत्तिर्भवति अतः यत्र विलक्षण व्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ न स्तस्तत्र जन्मान्तरीययोस्तयोः कल्पनं कर्त्तव्यम् इति पक्षस्य, अग्रे खण्डनं क्रियते आचार्येण। अयमाशयस्तस्य लोके हि वलवता प्रमाणेन आगमेनान्येन वा कारणता निर्णये जाते सति पश्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणार्थं जन्मान्तरीयं कारणं कल्प्यते। यथा—'सुखन्तुजगतामेव काम्यं धर्मेण जायते' इति वचनेन कारकवल्यां विश्वनाथपञ्चानेन सुखं प्रति धर्मस्यकारणत्वं शास्त्रसम्मतं प्रतिपादितम्। अस्मिन् कार्यकारणभावे व्यभिचारो दृश्यते। इदानीं कलौ वहवः पापाचरणाः

सुखिनो दृश्यन्ते चेद् भवति तत्र सन्देहः अत एतादृशस्थलेषु व्यभिचारशङ्कानिवृत्तये जन्मान्तरीयो धर्मः सुखकारणत्वेन उच्यते।

किन्तु यत्र आगमेन अन्येन वा प्रबल प्रमाणेन कारणता न गृहीता यथा प्रकृते, तत्र स्वमतिकल्पितस्य कारणत्वस्य रक्षणार्थं व्यभिचारवारणाय जन्मान्तरीयकारणकल्पनं न युक्तम्। एवं केवलायाः प्रतिभायाः कारणत्वं समर्थितम् आचार्यैः।

अस्मिन् प्रसंगे नागेशभट्टाः- प्रतिभा काव्यं प्रति कारणम्। किन्तु तस्याः कारणं न त्रितयमेव। प्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रति मिलितं त्रितयमेव कारणमिति नेत्यर्थः। एवकारेण क्वचित् त्रितयस्याऽपि कारणत्वमिति ध्वनयति। अत्र प्रयुक्त एवकारः एव क्वचित् त्रितयस्याऽपि कारणत्वं बोधयति न तु नियमेन तेषां कारणता भवतीति ध्वनयतीति वदतां भट्टानामाशयः। कथमयमाशयो भवति एवकारेण इति वदति आचार्यः।

अयमाशयः–त्रिविधो हि एवकारो भवति प्रयुक्तः। विशेष्यसंगतः, विशेषणसंगतः, क्रियासंगतश्चेति। विशेष्यसंगतस्यैवकारस्य अन्ययोगव्यवच्छेदोऽर्थो भवति। यथा- 'पार्थ एव धनुर्धर' इत्यत्र एवकारः पार्थादन्यस्मिन् धनुर्धरत्वस्य योगव्यवच्छेदम् योगाभावं शास्ति। यद्यपि एवं वक्तुं शक्यते इदं समीचीनं नाऽस्ति कर्णादिषु धनुर्धरत्वस्य योगस्यानुभवात् किन्तु कथनमिदमाशयानभिज्ञतां सूचयति धनुर्धरत्वं कामं तिष्ठतु नामान्यत्र यादृशं धनुर्धरत्वं पार्थे वर्तते तादृशमन्यत्र नाऽस्ति एतत् वर्तते हार्दं वाक्यप्रयोक्तुः।

'शंखः पाण्डुरः एव' इति वाक्ये विशेषणसंगत एवकारो वर्तते। अस्य च अयोग व्यवच्छेदोऽर्थो भवति। तेन शंखे पाण्डुरत्वस्य अयोगस्य (असम्बन्धस्य) व्यवच्छेदोऽभावः बोध्यते। तेन शंखो नीलपीतादि वर्णो न भवतीति फलितार्थो भवति।

'नीलं सरोजं भवत्येव' इति वाक्ये क्रियासंगत एवकारः प्रयुज्यते। अस्य च अत्यन्तायोगव्यवच्छेदोऽर्थः स्वीक्रियते। तेन सरोजे नीलत्वस्यात्यन्तायोगस्य अत्यन्ता-सम्बन्धस्याभावबोधनेन क्वचित् सरोजे नीलत्वसम्बन्धः सूच्यते न सर्वत्र। तेन रक्तपीतादीनां सरोजानां सत्वं तु न निषिध्यते किन्तु नीलसरोजस्यासत्वं वार्यते।

प्रकृते 'न तु त्रयमेवे'ति वाक्ये विशेष्यसंगत एवकारः प्रयुज्यते यतो हि 'त्रयमेव न हेतुः' इति कथने हेतुत्वे विधेयता आयाति। न त्रयमित्यत्र। विशेष्यसंगतैवकारस्य च अयोगव्यवच्छेदार्थकत्वात् त्रिषु कारणत्वस्य नित्यसम्बन्ध आयाति अन्यस्मिनयोगस्य सम्बन्धस्य अभावात् (व्यवच्छेदात्)। अस्य च नकारेण निषेधे नित्यसम्बन्धाभावः सिद्ध्यति। त्रिषु हेतुत्वस्य नित्यसम्बन्धो नाऽस्ति इति कथनेन क्वाचित्कः सम्बन्धो लभ्यते। हेतुत्वस्य सम्बन्धो हेतुत्वाश्रयता भवति तेन ते हेतवो भवन्ति क्वचित् सर्वत्रेति सिद्धौ भवति।

केवलस्यादृष्टस्याऽपि प्रतिभां प्रति कारणत्वं निषिद्ध्यते नाऽपि केवलमदृष्टमेव कारणमिति ग्रन्थेन। प्रतिभां प्रति अदृष्टमेव कारणमिति न स्वीक्रियते विशेष्यसंगतैवकारेण अदृष्टादन्यत्र कारणत्वस्य निषेधो न क्रियते व्यभिचारदर्शनात्। कियन्तञ्चित् कालं काव्यं कर्तुमसमर्थस्य कथमपि केनाऽपि प्रकारेण व्युत्पत्त्यभ्यासयोः सतोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात्। व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रागपि अदृष्टसत्त्वेन कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावात् व्यभिचार इत्याशयः। अयमन्वयव्यभिचार उच्यते कारणसत्ताया अनु पश्चात् अयः गमनम् कार्यसत्त्वम् कार्यस्योत्पत्तिरन्वय उच्यते तस्य व्यभिचारः अन्वय व्यभिचार इति शब्दात्प्रतीयमानोऽर्थः।

अग्रे 'न च तत्र प्रतिभायाः प्रतिबन्धकमदृष्टान्तरं कल्प्यमिति वाच्यमिति ग्रन्थेन व्यभिचारवारणस्य प्रयासः पूर्वपक्षरीत्या प्रदर्शितः। प्रतिभायाः प्रतिबन्धकस्य अदृष्टान्तरस्य सत्त्वेन प्रतिबन्धकाभावरूपकारणाभावादेव कार्याभावस्तत्र वर्तते अतो न कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावरूपव्यभिचार इति ग्रन्थाशयः।

अयं भावः—नैयायिकै र्हि कार्यकारणभावनिर्वचनं कुर्वद्भिः कार्यं प्रति साधारणकारणानि अधस्तनानि वर्णितानि—

ईशस्तज्ज्ञानयन्त्रेच्छाः कालोऽदृष्टो दिगेव च।

प्रागभावप्रतिबन्धकाभावौ कार्ये साधारणाः स्मृताः॥ इति।

रूपेण ईश्वरः, ईश्वरज्ञानम्, ईश्वरप्रयत्नः, ईश्वरेच्छा, कालः अदृष्टः दिक्, प्रागभावः प्रतिबन्धकाभावश्चेति नवकारणानि भवन्ति सर्वेषु कार्येषु साधारणानि। एतानि सर्वेषामुत्पत्तौ कारणानि वर्तन्ते अत एव कार्यमात्रं प्रति साधारणकारणान्युच्यन्ते। असाधारणकारणानि तु घटादिकार्यं प्रति दण्डचक्रचीवरकुलालमृत्तिकादीनि पार्थक्येन भवन्तीति न तेषां सर्वकार्याणि प्रति उत्पादकता।

एषु साधारणकारणेषु प्रतिबन्धकाभावोऽप्येकं कारणं वर्तते। तस्य चात्रासत्त्वं वर्ततेऽदृष्टरूप प्रतिबन्धकस्य सत्त्वात्। एवं च प्रतिबन्धकसत्त्वे, प्रतिबन्धकाभावरूप-कारणाभावान्न 'प्रतिभा' रूपकार्योत्पत्तिरिति ग्रन्थकाराशयः।

इदमत्रावधेयम्—न हि कस्यचित्पदार्थविशेषस्य एकस्य सर्वत्र प्रतिबन्धकत्वं वर्तते कार्यानुसारं प्रतिबन्धकानां भेदो भवति। यथा दण्डचक्रकुलालकपालादिसत्त्वेऽपि घटोत्पादानन्तरं तस्मिन्नेव कपाले पुनः घटस्योत्पत्ति र्न भवति घटस्य सद्यो जातस्यैव घटान्तरोत्पत्तिं प्रति प्रतिबन्धकत्वात्। एवमेव तन्तुषु पटोत्पत्त्यनन्तरं पुनः पटान्तरोत्पत्तौ सद्यो जातस्य पटस्य प्रतिबन्धकत्वं भवति। एवं सर्वाणि कार्याणि स्वकारणे पुनः कार्यान्तरस्योत्पत्तिं प्रतिबध्नन्ति। एवमन्येऽपि प्रतिबन्धकविशेषाः तेषु तेषु वर्तन्ते। एषां सर्वेषामभावे कार्यं भवति प्रतिबन्धकसत्वे तु न भवति। एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतिबन्धकाभावस्य कारणतासिद्ध्यति।

अस्तु अदृष्टकारणवादिभिरेतादृशानेकस्थलेषु व्यभिचारवारणार्थम् प्रतिबन्धकादृष्टस्य कल्पनेनादृष्टद्वयस्य कल्पना कर्तव्या भवति एकं कारणरूपमदृष्टम् अपरञ्चप्रतिबन्धकरूपेण स्वीकृतम्। अतो लाघवात् दृष्टकारणसत्त्वे अदृष्टकारणकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च व्युत्त्यभ्यासयोरेव कारणत्वकल्पनं वरमिति वक्तव्यम्।

एतावता ग्रन्थभागेन प्रतिभां प्रति क्वचित् अदृष्टविशेषस्य क्वचित् विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासयोश्च कारणत्वस्य निश्चयेऽपि व्यभिचारो दुरुद्धर एव। तथाहि यत्र अदृष्टवशात् प्रतिभोत्पत्ति र्न तत्र विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकारणाभ्यासयोः कारणत्वम्, यत्र च आभ्यां प्रतिभोत्पत्ति र्न तत्रादृष्टसत्त्वमिति कारणद्वयमध्ये एकैकस्योभयत्राभावात्।

अत्रेदं तत्त्वं द्रष्टव्यम्—अदृष्टजा प्रतिभा भिन्ना, विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणा-भ्यासाभ्याञ्च जन्या प्रतिभा भिन्ना। अतो न भवति व्यभिचार इति सूच्यते—तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यम् कार्यतावच्छेदकमिति ग्रन्थेन। अत्र प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकमुच्यते। अस्याशयं प्रकटयितुं कार्यता विषये अवच्छेदकता विषये च दार्शनिकदिशा कश्चनविचारः प्रस्तूयते।

कार्यता-कार्यस्यभावः कार्यतेति व्युत्पत्तौ निष्पन्नः कार्यताशब्दः कार्यवृत्तिधर्मं वक्ति। कार्यता ज्ञानीया विषयता अस्ति। अर्थात् यदा कश्चन पदार्थः कार्यत्वेन ज्ञानविषयो भवति अर्थात् इदमस्य कार्यम्, इदमस्मादुत्पद्यते इत्यादिरूपेण अभिलाप जन्यज्ञान विषयो भवति, प्रत्यक्षादि ज्ञानविषयो वा भवति तदा ज्ञानीया विषयता 'कार्यतारूपा' तत्र तिष्ठति। विषयताश्च कस्मिँश्चिदपि पदार्थे भिन्न भिन्ना भवन्ति। यथा अयं घटः इति ज्ञानं भवति चेत् घटो घटत्वेन ज्ञानविषयो भवति। मृत्तिकातः घटो जायते इत्याकारके ज्ञाने घटः कार्यत्वेन ज्ञान विषयो भवति। कार्यतायाः निरूपकत्वं कारणतायां वर्तते। कार्यतायाः कश्चनावच्छेदको धर्मो भवति तथैव कारणताया अपि अवच्छेदको धर्मो भवति, तेनैव रूपेण कारणं भांति दण्डादिकम् घटादिकं च कार्यतावच्छेदक घटत्वादि धर्मेण कार्यं भवति। तथा च दण्डत्वाच्छिन्ना कारणता, घटत्वावच्छिन्ना च कार्यतेति व्यवहारो भवति। अन्ये धर्माः द्रव्यत्व पदार्थत्वादयः दण्डघटयोर्वर्तमाना अपि कारणताया कार्यताया वा अवच्छेदका न भवन्ति दण्डादिषु द्रव्यत्व पदार्थत्वादिरूपेण कारणताया घटादिषु च पदार्थत्वादिरूपेण कार्यताया अभावात्।

कार्यतायाः कारणतायाः, अन्यस्या वा ज्ञानीयविषयताया अवच्छेदको धर्मः कश्चन अवश्यं स्वीक्रियते। स च अवच्छेदकतायाः आश्रयो भवति। अवच्छेदकता, परिच्छेदकता, नियामकता, नियन्त्रकता इत्यादयः समानर्थकाः शब्दाः सन्ति।

अस्तु प्रतिभायां विद्यमानस्य वैलक्षण्यस्य कार्यतावच्छेदकत्वं वदन्तो ग्रन्थकाराः अदृष्टविशेषजन्या विलक्षणा प्रतिभा, व्युत्पत्यभ्यसाभ्यां च जन्या विलक्षणा प्रतिभेति वदन्ति। तेन अदृष्टजन्या प्रतिभा अन्या, व्युत्पत्त्यभ्यासजन्या च प्रतिभा अन्येति व्यभिचारस्य निरासः स्वत एव भवति। अदृष्टजन्यप्रतिभां प्रतिव्युत्त्यभ्यासयोरकारणत्वात्।

Vol. XIV, [Issue No. 2 & 3 combined], May– Dec. 2017 ISSN: 0970-1745, UGC Approved Journal No.: 42069

विवाहित/अविवाहित स्त्री : सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण

डॉ0 भावना सिंह शाक्य
असिस्टेंट प्रोफेसर
राष्ट्रीय रक्षा अकादमी, खड़कवासला, पुणे

स्त्री, इस समाज के लिए हमेशा से कौतूहल और जिज्ञासा का विषय रही है। यदि वह अकेली हो तो सोने पर सुहागा। एक सार्वजनिक सम्पत्ति, दीवार, जिस पर कोई भी पोस्टर लगा सकता है। पुरुष को स्त्री सदैव डराती रही है। प्रश्न यह है कि क्या सच में स्त्री ऐसी अजेय ताकत है? उसे अगर बंधक न बनाया गया, तो वह अहल्या से मेनका हो जायेगी। उसे पूतना बनाकर मारना होगा, सूपर्नखा कहकर अंगभंग करने होगें, रावण की सीता बताकर देश निकाला देना होगा और पांडवों की पत्नी द्रौपदी को भरी सभा में नंगा करना होगा। स्त्री के लिए समय परिवर्तन का विधान नहीं। उसे आज भी त्रेता और द्वापर युग की स्त्रियों के रूप में देखा जाता है और माना जा रहा है कि रस्सा ढीला होते ही वह उच्छृंखल, स्वच्छंद और जंगली हो जायेगी। कहीं पुरुष की तरह सत्ता संचालक हो गयी तो? उसकी हैसियत अपने काबू में रखनी है, तभी वह मर्द के स्वाद की वस्तु बनी रह सकती है। अतः घूँघट का सौंदर्यबोध, हिजाब की नकाब के कसीदे, सस्ती महँगी धातुओं के गहने, घर-आँगन की सुरक्षा और असुरक्षा का एहसास देकर डरे हुए पुरुष ने औरत को चालाकी के बारीक तारों में उलझा लिया कि वह अपने स्व को बिसरा दें।

हम यहाँ बात करना चाहते हैं उन स्त्रियों की, जो न पिता के संरक्षण में है न पति और न बेटे के। वे अकेली है अपनी परिस्थितियों और अपनी इच्छाओं से। विवाह की उम्र होने के बाद भी अगर ये स्त्रियाँ विवाह नहीं करना चाहती है या नहीं बँधती है। तो क्या होता है इस समाज का दृष्टिकोण? कैसे समाज के साँचे के बाहर खड़ी स्त्री अपने को जीवित रख पाती है। समाज के अंह पर लगातार चोंट करती हुई ये स्त्री कितनी टूटती है और कितना बनती है। यही जानना यहाँ हमारा उद्देश्य है।

यदि हम वैदिक युग से बात शुरु करें तो ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जब स्त्रियों को विवाह करने और ना करने की छूट थी। ऐसा कोई धार्मिक प्रतिबंध नहीं था कि प्रत्येक लड़की को विवाह करना ही चाहिए। यह ठीक है कि पत्नी और माता बनना स्त्री के कर्तव्यों में संदिग्ध रूप से सबसे अधिक कौशलपूर्ण और कठिन कार्य है, फिर भी किसी को इसके लिए विवश नहीं किया जाना चाहिए। यदि कोई ऐसा व्यक्ति है, जो ब्रह्मचारी रहकर संतुष्ट हैं, तो कोई कारण नहीं कि समाज इनकों अकेले रहने की स्वतंत्रता न दें। यह बिल्कुल अनुचित है कि उन्हें घरेलूपन के झंझट में फँसने को विवश किया जाये, जिसके लिए वे उपयुक्त नहीं है। विचार और समाज की सारी परम्परा, ओछा वार्तालाप और माता-पिता की स्वार्थ-भावना, जो अपने वंश को आगे चलता देखना चाहते हैं, आत्मा की मुक्ति के लिए प्रार्थना करनेवाले वंशज के अभाव का भय और तथाकथित धर्म अनिच्छुक व्यक्तियों को भी विवाह के लिए विवश कर देते हैं। परन्तु पिछले कुछ समय से आर्थिक और अन्य दशाओं के कारण अविवाहित लोगों की संख्या बढ़ती पर है।

लेखक राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'धर्म और समाज' में अविवाहित रहने वाली स्त्रियों के संदर्भ में अपने विचार कुछ इस तरह से रखे हैं, "कुछ स्त्रियाँ पुरुषोचित प्रकार की उर्जस्वी और महत्वाकांक्षी होती है। वे जीवन के पुरस्कारों के लिए संघर्ष करती है। और खेलों तथा राजनीति में रुचि लेती है। वे प्रेम और विवाह के सब संबंधों से बचने का यत्न करती है। परन्तु यदि दुर्घटनावश वे ऐसे किसी संबंध में आ पड़ती है, तो वे अपने-आपको अपने पतियों से उच्चतर सिद्ध करने का यत्न करती है, और इस प्रकार विवाहित जीवन के माधुर्य को बिगाड़ती है। वे यह सिद्ध करने में गर्व अनुभव करती है कि उनमें धरेलूपन की भावना कभी विकसित ही नहीं हुई। यद्यपि ऐसे मामले बहुत थोड़े होते हैं। फिर भी समाज को उनके लिए गुजांइश रखनी होगी। इस प्रकार की पौरुषी स्त्रियाँ उस उच्चतम सीमा तक नहीं पहुंच पातीं, जहाँ तक कि नारी पहुंच सकती है।"[1] 'राधाकृष्ण जी के अनुसार 'पौरुषी स्त्रियाँ' एक नयी प्रजाति है स्त्रियों की। जो उस 'तथाकथित नारी' से निकृष्ट है।

यदि स्त्रियों को बिना किसी परम्परा के पथ प्रदर्शन के अपने भरोसे छोड़ दिया जावे, तो वे न तो पुरुषों से अधिक स्थिर होती है और न कम स्थिर। उनकी काम-वृत्तियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम परिवर्तनशील नहीं होती। न तो स्त्री मासूम मेमना है और न पुरुष निगल जानेवाला राक्षस। आदिम युग में स्वेच्छाचार की प्रथा थी और वह बुरा नहीं समझा जाता था। स्त्रियाँ जैसे चाहे रह सकती थी। जब भी परिस्थितियाँ अनुकूल होती थी, वे एक विवाह संबंध को त्याग देती थीं। विक्टोरिया के देशी निवासियों में स्त्रियों के इतने अधिक प्रेमी होते थे कि उनमें यह बता पाना लगभग असम्भव होता था कि किस बच्चे का पिता कौन है। अरब और मेडागास्कर के कुलीन घरों की महिलाएँ विवाह तो केवल एक ही पुरुष से करती है, परन्तु उसके साथ ही उनके अनेक प्रेमी भी होते हैं। सन्तानोत्पादन के बोझ के कारण स्त्रियों का झुकाव एक पति के साथ जीवन बिताने की ओर होता है। यदि उसे आर्थिक पराधीनता से मुक्ति मिल जाए, तो उसकी एक विवाहशील होने की संभावना पुरुष की अपेक्षा अधिक नहीं है। ऐसे एक विवाह बहुत थोड़े हैं, जिनमें बीच-बीच में बार-बार

तलाक हुए हों। महाभारत में ऐसे प्रदेशों का उल्लेख है, जहाँ स्वेच्छाचार प्रचलित था। स्वेच्छाचार के चिन्ह वैदिकपूर्व युग में पाये जाते हैं, क्योंकि ऋग्वेद के समय तक विवाह संस्था भली भाँति स्थापित हो गयी थी।

हर बड़ी परंपरा के बरक्स छोटी-छोटी परंपराए भी अपना अस्तित्व रखती है। अब वह अपने खुद से बड़ी परंपरा को कितना प्रभावित करती है कितना नहीं; यह अलग प्रश्न है। उसी तरह वैवाहिक स्त्रियों से अलग इस समाज के इतिहास में ऐसी स्त्रियाँ भी रही है जिन्होंने पति के बिना भी जीवन जीया, और अपने होने का एहसास कराया। ये स्त्रियाँ या तो अविवाहित रही या विवाह के पश्चात् पतियों से अलग। घोषा, अपाला, लोपमुद्रा, थेरीगाथा आदि ऐसी ही स्त्रियाँ थी जिन्होंने स्त्री के बंधे-बंधाये पारंपरिक जीवन से अलग अपनी पहचान बनायी। अपनी स्वतंत्रता को जीने वाली मुक्ता थेरी कहती है -

"मैं अच्छी तरह मुक्त हो गयी हूँ;
अच्छी विमुक्त हो गयी हँ।
तीन टेढ़ी चीजों से मैं अच्छी तरह मुक्त हो गयी हूँ।
ओखली से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से मैं अच्छी
तरह मुक्त हो गयी हूँ।
मैं आज जरा और मरण से भी मुक्त हो गयी हँ।
मेरी संसार-तृष्णा ही समाप्त हो गयी हँ।"[2]
इसी तरह एक दूसरी थेरी सुमंगलमाता अपनी मुक्तता को कुछ इन शब्दों में व्यक्त करती है-
अहो! मैं मुक्त नारी हूँ!
मेरी मुक्ति कितनी धन्य है।
पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी, आज मैं उससे मुक्त हो गयी हूँ।
मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे भांड़े-बरतन जिनके बीच मैं
मैली कुचैली बैठती थी और मेरा निर्लज्ज पति
मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था, जिन्हें वह अपनी
जीविका के लिए बनाता था।"[3]

किसी औरत का अपनी मर्जी से अपनी पहचान के साथ जीना इस समाज को कभी भी स्वीकार नहीं रहा है। वह तो "पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रों रक्षति बार्धक्ये न स्त्री स्वांतत्यमर्हति" की धारणा के साथ ही जीता आया है। सीमोन ने एक महत्वाकांक्षी स्त्री के विषय में लिखा है, "एक स्त्री, जो जीना चाहती है और जिसने अपनी हर इच्छा तथा कामना को दफन नहीं कर दिया है, निष्क्रिय उदासीनता के बदले जोखिम लेना अधिक पंसद करेगी। उसे एक पुरुष की तुलना में अधिक प्रतिकूल और चुनौतीपूर्ण स्थितियों का सामना करना पड़ता है। समाज स्त्री की स्वतंत्रता की इच्छा को सहजता से स्वीकार नहीं करता। स्वतंत्रता का उपयोग करने वाली स्त्री ऐसे समाज में मान और कैरियर को खोने का जोखिम उठाती है।"[4]

आज की स्त्री ने घर की दहलीज लाँघ कर 'काम के क्षेत्र' में अपनी पहचान बनायी है तो इससे घरेलू जिम्मेदारियों से वह मुक्त नहीं हो गयी है। घर उसकी पहली जिम्मेदारी और पहली पसंद होनी ही चाहिए। इसलिए सिर्फ बच्चे के पैदा होने पर ही नहीं, बच्चा बीमार पड़े तब भी छुट्टी वही ले, कोई आकस्मिक घरेलू काम आ पड़ने वह तुरंत अपना 'काम पर जाना' स्थगित कर घर पर रहे- यह अपेक्षा उससे की जाती है। घर और परिवार की वह जिम्मेदारी कुछ इस तरह औरतों से जुड़ गयी है, जैसे यह नारी-संरचना का कोई महत्वपूर्ण तत्व हो। इसलिए सारी पुरानी परंपराओं के विरूद्ध जब कोई औरत खड़ी होती है तो सबसे पहले वह घर या घरेलू कामों को ही नकारती है।

एक अकेली औरत को सबसे ज्यादा डर किससे लगता है? बिना एक पुरुष से और पुरुषों से अपनी सुरक्षा के लिए एक मदद पुरुष का साथ होना ही चाहिए। मोटे तौर पर इस परंपरा के तहत औरत के लिए ब्रह्मचर्य का निषेध किया गया। पर हर काल में और हर वर्ग में सुरक्षा के लिए अनुबंधित स्त्री की बेचारगी, बेबसी अत्याचारियों के सामने झुलकती रही है। यानी पुरुष औरत की सुरक्षा की गांरटी नहीं, बल्कि समय और विवेक सम्मत समाज और खुद औरत की पहल उसे तुलनात्मक रूप से ज्यादा सुरक्षित रखती है। ऐसा जानने के बाद आधुनिक नारी ने पुरुष को सुरक्षा गार्ड की जगह एक दोस्त की तरह देखना-समझना शुरु किया है। आज, स्त्री परंपरा और आधुनिकता में ताल-मेल बिठाती और अपने लिए एक नयी दुनिया बसाने की जुगाड़ में है, जहाँ पुरुष उसका सहचर हो - सर्जक नहीं। लेकिन पुरुषों के लिए यह स्थिति सहज स्वीकार योग्य नहीं है। सीमोन के शब्दों में, "स्त्री जब खुले रूप में प्रस्ताव रखती है तो पुरुष खिसक जाता है, क्योंकि वह जीतने की हवस रखता है। स्त्री अपने आपको शिकार बनाकर ही कुछ पा सकती है। उसे निष्क्रिय वस्तु बनना पड़ता है। जैसे वह केवल एक समर्पित प्रत्याशा भर-हो।"[5]

अब आगे हम उपन्यासों की नायिकाओं के संदर्भ में बात करेंगे। कैसे समाज उनके निर्णयों के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करता है। क्या व्यक्तित्व और अस्तित्व समाज बनाता है इन अकेली औरतों का?

(2) समाज से 'भागी हुई औरतें और समाज'

हर अकेली औरत समाज से भागी हुई होती है क्योंकि अकेली औरत का कोई समाज नहीं होता है और समाज में अकेली औरत के लिए कोई जगह नहीं। हर औरत की पहचान इस समाज में एक पुरुष से जुड़ी हुई होती है। अर्थात, अकेली औरत की कोई पहचान नहीं होती है। तत्सम की नायिका वसुधा का प्रश्न है, "'सार्थकता' और 'पुरुष' - यह दोनों एक ही चीज के नाम क्यों है स्त्री के जीवन में? इतनी बड़ी जगह क्यों घेर ली है इस संबंध ने कि हर चीज की व्याख्या इस बिन्दु से ही होने लगे।"[6] स्त्री जीवन की सार्थकता पुरुष से बंधी हुई है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने उपन्यास 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में एक जगह लिखते हैं कि 'स्त्री की सफलता पुरुष को बाँधने में है और सार्थकता उसको मुक्त रखने में है।' काश, द्विवेदी जी इसके उलटी बात कहते कि पुरुष की सफलता स्त्री को बाँधने में है और सार्थकता उसकी मुक्ति में है। स्वयं पुरुष होने की वजह ही शायद वे इस ओर सोच भी नहीं पाये। इसका उत्तर महादेवी वर्मा एक औरत के व्यक्तित्व पर ध्यान देते हुए लिखती है, "न स्त्री को अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाने का अधिकार है और न समाज द्वारा निर्धारित विधान के विरुद्ध कुछ कहने का। उसका जीवन पुरुष के मनोरंजन तथा उसकी वंशवृद्धि के लिए इस प्रकार चिरनिवेदित हो चुका है कि उसकी सम्मति पूछने की आवश्यकता का अनुभव भी किसी ने नहीं किया।"[7]

जयशंकर प्रसाद के उपन्यास कंकाल की नायिका तारा मेले में अपने माँ-बाप से बिछुड़ जाती है। उसे एक कोठेवाली अपने कोठे पर ले जाकर रख लेती है। फिर वहाँ से नायक मंगल उसे छुड़ाकर उसे उसके घर ले जाकर छोड़ना चाहता है। लेकिन उसके पिता उसे ट्रेन में ही मिल जाते हैं और वे उसे स्वीकार करने से इंकार कर देते हैं। मंगल और तारा के पिता के बीच बातचीत कुछ इस प्रकार है - "तब यह किसकी शरण में जायेगी? अभागिनी की कौन रक्षा करेगा? मैं आपको प्रमाण दूँगा की तारा निरपराधिनी है। आप इसे - बीच ही में यात्री ने रोककर कहा - मूर्ख युवक। ऐसी स्वैरिणी को कौन गृहस्थ अपनी कन्या कहकर सिर नीचा करेगा। तुम्हारे जैसे इसके बहुत से संरक्षक मिलेंगे। बस अब मुझसे कुछ न कहो।"[8] एक दूसरा उदाहरण देखिये, जिसमें दो पुरुष एक स्त्री (तारा) के विषय में कुछ इस तरह बातचीत कर रहे हैं जैसे वह सजीव प्राणी न होकर कोई वस्तु है जिसे एक हाथ से दूसरे हाथ में सुरक्षित पहुंचाना है - "मंगल से न रहा गया, उसने कहा - महाशय, आपका क्रोध व्यर्थ है। यह स्त्री कुचक्रियों के फेर में पड़ गयी थी, परन्तु इसकी पवित्रता में कोई अंतर नहीं पड़ा। बड़ी कठिनता से इसका उद्धार करके मैं इसे आप ही के पास पहुंचाने के लिए जाता था। भाग्य से आप यही मिल गये। भाग्य से नहीं, दुर्भाग्य से! - "घृणा और क्रोध से यात्री के मुँह का रंग बदल रहा था।"[9]

ये है घर से बिछुड़ी हुई औरत का भाग्य (दुर्भाग्य)। एक बार घर से बेधर हुई स्त्री का कोई ठिकाना नहीं होता है। डार से बिछुड़ी (पाशो) की तरह। मस्तराम कपूर अपने एक लेख में कहते हैं कि हमें स्त्री की परम्परागत भूमिका से अलग कोई और भूमिका (अस्तित्व) स्वीकार ही नहीं है। देखिये - "स्त्री हमारे लिये या तो भोग वस्तु है या क्रय-विक्रय की चीज या राजनीति की शंतरज का मोहरा। उसकी माँ, बेटी, बहन, पत्नी, प्रेमिका आदि की परम्परागत भूमिका तो हमें स्वीकार है, किन्तु इस घेरे से बाहर कोई भूमिका नहीं। स्त्री-जीवन का और भी कोई उद्देश्य है, इसे हमने स्वीकार नहीं किया है। इसीलिए यदि कोई स्त्री परंपरागत भूमिका के घेरे से बाहर निकलकर कोई उपलब्धि हासिल करती है तो पुरुष समाज को अवचेतन में ही सही, तकलीफ होती है।"[10]

उषा प्रियबंदा ने 'पचपन खम्भे लाल दीबारें' की नायिका सुषमा के माध्यम से आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर लड़कियों के संघर्ष को अभिव्यक्ति दी है। सुषमा की यह लड़ाई कार्यक्षेत्र से ज्यादा परिवार से जुड़ी हुई है। सुषमा एक कॉलेज में व्याख्याता तथा गर्ल्स हॉस्टल की वार्डन है। घर-परिवार की पूरी जिम्मेदारी सुषमा पर है और इस क्रम में वह अपने को भूल जाती है। वह अपनी पारिवारिक प्रतिबद्धता में अपनी वैयक्तिक भावना और प्रेम की बलि चढ़ा देती है। परन्तु इससे वह खुश नहीं है। वह जीना चाहती है; पर जी नहीं सकती; यह उसकी विवशता है। इसीलिए तो वह अपनी सहेली मीनाक्षी से कहती है - "पैतांलिस साल की आयु में मैं एक कुत्ता या बिल्ली पाल लूँगी.... उसे सीने से लगा रखूँगी. ... आज से सोलह साल बाद शायद तुम मुझे यहीं पाओगी। कॉलेज के इन पचपन खंभों की तरह स्थिर, अचल।"[11] पचपन खम्भों की तरह उसके जीवन के खम्भे भी निश्चित ही है। कॉलेज -बिल्डिंग के रंग की भांति उसके जीवन का भी एक ही रंग है- कमाना और कमाकर पैसे घर भेजना। सुषमा के इस वैराग्य का चित्रण भी लेखिका ने किया है - "जीवन की भागदौड़ और आजीविका के प्रश्नों में चुपचाप विलीन हो गये दो वर्ष- और अब तो उसके चारों ओर दीवारें खिंच गयी थीं, दायित्व की, कुंठाओ की, अपने घर की गरिमा और परिवार की।.... कभी-कभी उसका मन न जाने क्यों डूबने लगता। अपने परिवार का सारा बोझ अपने ऊपर लिए सुषमा काँपने लगती। तब वह चाह उठती कि दो बाँहे उसे भी सहारा देने को हों। इस नीरवता में कुछ अस्फुट शब्द उसे भी सम्बोधन करें।"[12]

'पचपन खंभे लाल दीवारे' कामकाजी, अविवाहित स्त्री के सामाजिक परिवेश और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच जटिल अंतसंबंधों की मनोवैज्ञानिक स्तर पर सूक्ष्म जाँच-पड़ताल और सामाजिक स्तर पर बेहतर विकल्प की खोज में संघर्षरत् पहली महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। विवाह संस्था की अनिवार्यता पर प्रश्न चिह्न लगाती नायिका का दृष्टिकोण न नितांत व्यक्तिवादी है और न ही पूर्ण रूप से परम्परावादी। इसीलिए उसे हर बार व्यक्ति और समाज के बीच के संधि रेखा पर खड़े होकर सोचना - समझना पड़ता है। सबकी (समेत अपने) स्थितियों, क्षमताओं, अपेक्षाओं और सीमाओं को संवेदना और समग्रता में देखती समझती नायिका को 'पलायनवादी' या आत्मपीड़न' की शिकार कहना उचित नहीं।

शोध अध्ययनों से स्पष्ट है कि जैसे-जैसे स्त्री शिक्षा को बढ़ावा मिला है, नौकरी और व्यवसाय के कारण आत्मनिर्भरता बढ़ी है, वैसे-वैसे सुशिक्षित और आत्मनिर्भर महिलाओं में अविवाहिताओं की संख्या भी लगातार बढ़ती गयी है। आर्थिक, पारिवारिक और अन्य कारणों के अलावा स्वेच्छा से अविवाहित रहने की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्र में स्त्रियाँ अधिक अविवाहित पायी जाती है, जिसका मूल कारण सामाजिक चेतना और पारिवारिक दबाव ही है। अविवाहित औरतों के साथ-साथ तलाकशुदा कामकाजी औरतों की संख्या भी निरंतर बढ़ती जा रही है। कहा जा सकता है कि तलाक के बढ़ते मामले अप्रत्यक्ष रूप से कामकाजी प्रबुद्ध स्त्रियों को अविवाहित रहने का निर्णय लेने में उत्प्रेरक की भूमिका निभाते हैं। "दुखी विवाहित जीवन से बेहतर है। अविवाहित रहना या तलाक लेकर अकेले रहना" कहने वाली महिलाए शहरी समाज में अब आम दिखाई देती हैं। मान-सम्मान, सामाजिक प्रतिष्ठा, पुरुष साथी या ऐसे ही अन्य सुरक्षा कबच स्त्री को विवाह संस्था में बाँधने या बाँधे रखने के लिए नाकाफी सिद्ध हो रहे हैं। 'शृंखला की कड़िया' में महादेवी एक लेख में लिखती है, "पत्नीत्व की अनिवार्यता से विद्रोह करके अनेक सुशिक्षित स्त्रियाँ गृहस्थ-जीवन में प्रवेश नहीं करना चाहती, क्योंकि उन्हें भय रहता है कि उनके सहयोगी (पति) उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को एक क्षण भी सहन न कर सकेंगे।"[13]

परिवार के लिए कमाऊ बेटी होने की वजह से उसके माता-पिता ने कभी 'यह चाहा ही नहीं कि सुषमा की शादी हो, उसके अन्तर्मन में यह बात अवश्य होगी कि सुषमा से उन्हें सहारा मिलेगा।' दरअसल उसकी शादी करने से उनकी सारी आर्थिक व्यवस्था गड़बड़ा जाती। भारतीय समाज में आज हजारों–हजार ऐसी सुषमाए हैं जो आजीवन कुबाँरी रहने को विवश है। विवाह -योग्य उम्र में आर्थिक समस्याओं और दहेज की मांग के कारण योग्य वर नहीं मिलता और अधिकांश एक उम्र के बाद स्वयं कुंठाओं, मानसिक असन्तुलन और हीन भावना की शिकार हो जाती है।

विवाह संस्था से बाहर हर संबंध को अनैतिक और प्रेम को 'रंगरेलियाँ' कहकर कीचड़ उछालनेवालों की कोई कमी नहीं। हर विकल्प ऐसी बंद गली है जिससे निकलने की कोई राह नहीं। कहने को सही है कि किसी के व्यक्तिगत जीवन में किसी को दखल देने का क्या हक है? लेकिन सामाजिक व्यवहार में इस सिद्धांत की धज्जियाँ उड़ते हुए हम सब रोज ही देखते हैं। कोई सुषमा एक पुरुष मित्र बनाकर तो देखें 'कि परिवार रिश्तेदार', सहेलियाँ, छात्राएँ और अन्य लोग क्या-क्या आरोप नहीं लगाते। इसके बाद आत्मग्लानि, अपराध-बोध, मानसिक विक्षिप्तता और जटिल मनोग्रंथियाँ अक्सर आत्मपीड़न से लेकर आत्महत्या तक ही ले जाती है, या फिर पलायन और स्थितियों से समझौता और समर्पण करवा देती है। पिछले 50 सालों में सारे सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनैतिक बदलाव के बावजूद मध्यवर्गीय (नैतिक) मानसिकता में कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। आर्थिक दबाब पहले से अधिक बढ़े है और सुषमा जैसी लड़कियों का जीवन और ज्यादा संघर्षपूर्ण हुआ है। तथाकथित आधुनिक हुई ये अकेली स्त्रियाँ अपनी परम्पराओं और समाज के डर से बंधी हुई है। सुषमा का नील के साथ घर आने पर ये सोचना यही डर दर्शाता है, "पर साथ ही यह भी उसे लग रहा था कि रात में नील का उसके साथ आना उचित न था। वह बेफिक्र तरुणी तो नहीं है। उसकी हर क्रिया को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाता है। बेकार में ऐसी बातों को क्यों जन्म दिया जाए।"[14] समाज की दोधारी तलवार हर स्थिति में औरत के सिर पर लटकती रहती है।

सुषमा का बीच-बीच में यह कहना कि 'नील', अब तुम मुझसे न मिला करो', सचमुच उस सामाजिक परिवेश का दबाव है, जिसमें उसे बार-बार यह समझाया-बताया गया है कि 'कभी ऐसा कुछ न करना, जिससे किसी को कुछ कहने का अवसर मिले" या "तुम्हारी बदनामी की वजह से परिवार की नाक कट जाये।" सहकर्मियों और छात्राओं द्वारा छींटाकशी से ही सुषमा को 'चक्कर' आने लगते है। नील के साथ प्रेम संबंधों को लेकर सहयोगी प्राध्यापिकाओं द्वारा प्रिंसिपल से शिकायत उसे और तोड़ती है, क्योंकि 'उसे अनैतिक आचरण के लिए उत्तरदायी' ठहराया जाता है। सगे-संबंधी, रिश्तेदारों की नजर में 'नील से संबंध तोड़कर उसने समझदारी (?) का काम किया है। सुषमा भली युवती है, उसकी जिम्मेदारियाँ है। उसने प्रॉविडेंट फंड से ऋण लेकर छोटी बहन के विवाह का प्रबंध किया है। इस आयु में ऐसे बचकाने रोमांस नहीं सुहाते।" भावना और कर्तव्य के बीच झूलती सुषमा अन्ततः 'अच्छी लड़की' बनने या बने रहने की ही कोशिश करती रहती है।

सुषमा उपन्यास की नायिका मात्र नहीं है। बल्कि ऐसी सच्चाई है जो हमारे आस-पास बिखरी पड़ी है। विडंबना यह है कि यह निर्णय सुषमा का व्यक्तिगत नहीं बल्कि परिस्थितिजन्य निर्णय है। आज के इस अर्थयुग में आर्थिक समीकरणों ने परिवार के सारे मानवीय समीकरणों को बिगाड़ दिया है। नौकरी कर लेने के बाद सुषमा के घर में उसकी शादी के सारे प्रयास बंद हो जाते हैं। अविवाहित रहकर सुषमा कभी सम्पूर्णता में जी नहीं पाती है। एक दर्द उसके दिलो-दिमाग में बार-बार उभरता है - यदि पिताजी चाहते तो क्या इसका विवाह नहीं कर सकते थे। लोग लाख प्रयत्न कर बेटी के ब्याह का सामान जुटाते हैं। क्या उसी के पिता अनोखे थे? बात असल यह थी कि उन्होंने यह चाहा ही नहीं कि सुषमा की शादी हो, उनके अन्तर्मन में यह बात अवश्य रही होगी कि सुषमा से उन्हें सहारा मिलेगा।"[15] अंदर की इस पीड़ा को सुषमा अपने को भुलाकर जीती है। लेकिन लोग उसकी आंखों की पीड़ा समझ जाते हैं। कभी-कभी उसे व्यंग्य और विरोध भी झेलना पड़ता है। वह नील को चाहती है, उसके साथ अपना एकाकीपन बाँटना चाहती है लेकिन दृढ़ होकर इस संबंध को न तो वह स्वीकार कर पाती है और न इनकार कर पाती है। सुषमा हर तरह से आत्मनिर्भर है और अपने संबंध में कोई भी निर्णय ले सकती है मगर जिन्दगी के निर्णायक क्षण में उसे छोटे भाई-बहनों के प्रति अपना कर्तव्य याद आने लगता है।

नील सुषमा को कर्तव्यों की घुटन भरी दुनिया से निकालना चाहता है। वह कहता है, "मुझे लगता है सुषमा कि तुम्हारा परिवार तुम्हारा अनडयू एडवांटेज लेता है। तुम्हारे भाई-बहन तुम्हारे माता-पिता की जिम्मेदारी है, तुम्हारी नहीं।" सुषमा का जीवन ऊपर से जितना संतुलित, संतुष्ट और समन्वित दिखता है; हकीकत में उसका जीवन उतना ही बिखरा हुआ है। सुषमा की कहानी साहित्य में ही नहीं समाज में भी काफी आगे बढ़ गयी है। अविवाहित स्त्रियों, अविवाहित माताओं और बिना विवाह के पुरुषों के साथ सहजीवन बिताने वाली लड़कियों की संख्या पाश्चात्य देशों में ही नहीं बल्कि भारतीय समाज में भी लगातार बढ़ रही है। पहले जो घटनाए चौकाने वाली होती थीं, आज वह रोजमर्रे की घटनाओं में शुमार है।

आज सामाजिक हिंसा के साथ-साथ पारिवारिक हिंसा के बढ़ने से स्त्रियाँ काफी असुरक्षित हो गयी हैं। घर के भीतर-बाहर बढ़ती इस हिंसा में एक तरफ स्त्रियों ने परिवार को ही सर्वोत्तम विकल्प के रूप में स्वीकार किया लेकिन दूसरी तरफ कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जिन्होंने सुरक्षा के बदले में समझौता या समर्पण न करने की चुनौती और ढेर सारे खतरे उठाने का निर्णय लिया। आजादी के बाद स्त्री-शिक्षा, संवैधानिक अधिकारों, नौकरियों के कारण आर्थिक स्वतंत्रता, निरन्तर बदलते सामाजिक हालात और व्यापक स्तर पर नारीवादी आंदोलनों का ही परिणाम है कि शिक्षित, स्वावलम्बी स्त्रियाँ अपने बारे में कुछ निर्णय लेने लगीं है। बेटी, पत्नी, बहू और माँ की भूमिका से अलग उन्हें स्वयं अपनी भूमिका का एहसास और विश्वास होना वक्त का तकाजा है। 'सुषमा' अविवाहित रहकर चूँकि अपनी सार्थकता नहीं सिद्ध कर पाती है इसलिए उसका निर्णय उसकी नौकरी, उसकी आधुनिकता सभी सवालों के घेरे में है। ताजिंदगी एक टीस के साथ जीती सुषमा की आजादी बेमानी लगने लगती है।

प्रश्न ये है कि विवाह के अलावा क्या और कोई विकल्प हो ही नहीं सकता? क्या औरत को हमेशा संबंधों और संपत्ति के समीकरणों में पहचाना जायेगा? उसकी न अपनी कोई पहचान है और न ही कोई स्वतंत्र निर्णय। इन शर्तों पर मौजूदा परिवार के सड़ते ढाँचे को और अधिक लम्बे समय तक बचा पाना सर्वथा असंभव ही नहीं, बेहद खतरनाक भी है। सुषमा कब तक 'अच्छी लड़की' बनकर परिवार के हाथ में हर महीने वेतन का 'लिफाफा' बनी रहेगी? सुषमा जैसी कामकाजी अविविाहित लड़कियों की समस्याएँ मौजूदा समय में बढ़ने का कारण यह है कि आज सारे मानवीय रिश्ते स्वार्थ के हवाले है। यहाँ तक कि आज माता-पिता भी लाभ-हानि सोचकर रिश्ता निभाते हैं। सुषमा के माता-पिता अगर चाहते तो -'नील' से शादी के लिए 'सुषमा' को मानसिक रूप से तैयार कर सकते थे लेकिन उनकी नजर में तो वह इसलिए अच्छी है कि घर की जिम्मेदारी निबाहने के लिए ही उसने शादी नहीं की। मगर सुषमा की यह अच्छाई वास्तव में एक सामाजिक बुराई है। सुषमा को मजबूती के साथ अपने जीवन के निर्णय लेने चाहिए थे। चाहे इस निर्णय की जो परिणति होती, सुषमा को उसे स्वीकारने का साहस होना चाहिए था। जर्मेन ग्रीयर ने अपनी पुस्तक 'बधिया स्त्री' में स्त्री शक्ति को पहचानते हुए कुछ इन शब्दों में लिखा है - "स्त्री शक्ति का अर्थ है - स्त्रियों का आत्मनिर्णय और उसका अर्थ है कि पितृसत्तावादी समाज का कूड़ा-कबाड़ा बुहारकर बाहर फेंकना होगा। स्त्री के पास एक ऐसी नैतिकता, जो उसे उत्कृष्टता के अयोग्य न ठहराये, और एक ऐसा मनोविज्ञान जो उसे आध्यात्मिक अपाहिज करार न कर दे, गढ़ने के लिए गुजांइश रहनी चाहिए। ऐसे अपराध का दण्ड कड़ा हो सकता है क्योंकि उसे बिना पथप्रदर्शक के अंधेरे का संधान करना होगा।"[16] सुषमा में हम इसी स्त्री शक्ति का अभाव पाते हैं।

(3) डार से बिछुड़ना (अकेलापन) : निर्णय या मजबूरी

अकेली औरत के लिए मौजूदा समाज साहिष्णु और हमदर्द नहीं हो पाता है। हर वक्त उसे सवालों से जूझना पड़ता है। सामाजिक तंत्र चूँकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था को ही अंग है इसलिए पुरुष से अलग होकर अपनी पहचान और अपने होने के एहसास के साथ जीना इस सामंती समाज को कतई गवारा नहीं है। अकेली स्त्री सिर्फ कुलटा बनकर जी सकती है। पति से मुक्त होकर जीने का मतलब समस्याओं से मुक्त होना नहीं है क्योंकि समस्याए सिर्फ पुरुषों के द्वारा ही नहीं बल्कि इस व्यवस्था द्वारा भी पैदा होती हैं। जब तक एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में स्त्री की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती तब तक वह अकेले सम्मानपूर्वक नहीं जी सकती और मौजूदा व्यवस्था उसे अकेले प्रतिष्ठित नहीं होने देगी।

स्त्रियों को जिन परिवर्तनों से आजादी मिली है, उसके पीछे दो मुख्य कारक रहे है। पहली बात है उनका आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना। इससे उनमें स्वयं निर्णय कर पाने का आत्म-विश्वास आया है और उन्हें इसका अवसर भी मिला है। दूसरा कारक है यौन वर्जनाओं से मुक्ति और गर्भनिरोधकों के आने से स्वतंत्र एवं निश्चित ढंग से यौन रिश्तों को जी पाने की क्षमता। अब स्त्रियाँ अपने जीवन-यापन के लिए या यौन सुख के लिए किसी एक पुरुष पर निर्भर रहने की मजबूरी से मुक्त हो गयी हैं। यौन सुख के गर्भधारण की अनिवार्य चिंता से भी उन्हें छुटकारा मिल गया है। चूँकि अब वे किसी एक पुरुष पर निर्भर रहने को मजबूर नहीं रह गयी है, इसलिए यौन आकांक्षा की अभिव्यक्ति में भी 'शर्म' और 'वर्जनाओं' से घिरे रहने की विवशता उनके सामने नहीं रह गयी है। इससे 'एक नयी स्त्री' सामने आयी है, जिसे अब से पहले के सभ्यता के इतिहास में कभी देखा नहीं गया था। यह 'स्त्री' उन तमाम परंपराओं और परंपरागत समाजों के लिए चुनौती है जो स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व के नकार पर आधारित रही है। आज इस स्त्री की चर्चा या महज कल्पना से ही ये समाज और परंपराए काँप जाती हैं।

स्त्री माँ है, पत्नी है, बेटी है, बहन है, प्रेयसी है, देवी है, दासी है, प्रकृति है, सृष्टि है यानी मूल रूप से वह जो एक मानवीय इकाई है, एक व्यक्ति है, उसको छोड़कर वह सबकुछ है। आज वह इन सभी रूपों में ही (मानवी रूप को छोड़कर) सांसे ले रही है। जब-जब उसमें एक मानवी और व्यक्ति होने का बोध जगता है उसे तत्काल एहसास करा

दिया जाता है कि माँ, पत्नी, प्रेयसी, आदि तक तो ठीक है, लेकिन इसके आगे एक व्यक्ति नहीं ......। इससे आगे बढ़ते ही प्रतिक्रियाशील समाज उसके पर कतरने लगता है। लेकिन पर कतरने के बावजूद आज स्त्रियाँ उड़ने का हौसला रखती है। सहस्राब्दि के अंत तक आते-आते तमाम शोषण, उत्पीड़न, दमन और धमकी के बावजूद इस आधी आबादी की अस्मिता ने इतना वंवडर तो खड़ा कर ही दिया कि किसी के न मानते हुए भी किसी के न चाहते हुए भी 'वस्तु' से एक 'व्यक्ति' बनने का संघर्ष एक मुद्दा बन गया। औरतों की सुबकती आधी दुनिया अगर यथास्थिति को कुबूल नहीं कर पा रही है तो जाहिर है कि अंदर आग जली हुई है। मुद्दत से अपने अन्दर की आग को शमन कर सौम्यता की मूर्ति बनने से औरत को क्या मिला?

अपने निर्णय और स्वतंत्रता के साथ जीती हुई स्त्रियों की संख्या आज भी कम है। समाज का अस्वीकार और खुद औरतों के निर्णय लेने की अक्षमता ने भी स्त्रियों की स्थिति को अधिक दयनीय बनाया है। 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की नायिका सुषमा ऐसी ही पात्र है। दूसरी ओर देखे ऐसे स्त्री व्यक्तित्व भी समाज में होते हैं जो बंधी-बधांयी लीक से हटकर अपना रास्ता खुद बनाते हैं। ऐसे ही कुछ पात्रों की चर्चा हम आगे करेंगे। पहले हम उन स्त्रियों के मनोविज्ञान को समझने की कोशिश कर लेते है जो अपने जीवन के निर्णय स्वयं नहीं ले पाती है। तब जब उन्हें कोई ठोस निर्णय लेना हो। जर्मेन ग्रीयर ने इसी अनिर्णय की स्थिति की पहचान करते हुए लिखा है, "स्त्रियाँ क्योंकि दूसरे के लिए, दूसरों के माध्यम से जीती है, इसलिए उसे अपने व्यवहार की नैतिक जिम्मेदारी लेने की जरूरत नहीं है; क्योंकि उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं है। इसलिए उसमें नैतिकता और अहं भी नहीं है। अहं के न होने और ढेरों भूमिकाओं को निबाहने के कारण स्त्रियों की कोई अस्मिता भी नहीं होती जैसाकि अपने नाम बदलने में उनकी तत्परता से स्पष्ट है। अपने जीवन में स्त्री कभी भी खरी नहीं होती।"[17]

अब हम उपन्यासों की विभिन्न अकेली स्त्रियों के व्यक्तित्व और निर्णयों की चर्चा करेंगे।

चन्द्रा – हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'पुनर्नवा' की सहनायिका चन्द्रा का चरित्र एक मजबूत व्यक्तित्व है। यद्यपि द्विवेदी जी ने उसे प्रेम के उदात्त गुण से लपेटकर प्रस्तुत किया हैं ताकि वह सहज स्वीकार्य हो। अगर चन्द्रा आर्थिक से प्रेम नहीं करती तो क्या अपने नपुंसक पति को छोड़कर आने के लिए समाज उसे सम्मानित करता? आर्थिक से जुड़े बिना भी क्या उसे समाज उसे स्वीकार करता? स्त्री है मात्र इसलिए त्याग उसका धर्म है?

पहले चन्द्रा के व्यक्तित्व की चर्चा कर ली जायें। चन्द्रा एक ऐसी स्त्री चरित्र है जो अपनी प्राकृतिक/स्वाभाविकता के साथ है। उसके असंयम को आचार्य द्विवेदी ने बहुत अच्छी तरह से समझा है- उसे बहुत सहानुभूति दी है। हिन्दी में 'कंकाल' के बाद शायद ही किसी अन्य उपन्यास में असंयम की दुर्निवारता को इतना समझा गया हो। 'पुनर्नवा' में केवल असंयम और मर्यादाहीनता ही नहीं है। चन्द्रा के चरित्र में मर्यादाहीनता मर्यादित होने को बहुत आतुर है। चन्द्रा की संयमहीनता उपन्यास में टूटती है, उसकी एकनिष्ठता की मर्यादा नहीं टूटती। चन्द्रा का अन्तर्द्वंद्व बहुत वास्तविक है, वह हिन्दी कथा-साहित्य के अत्यन्त वास्तविक पात्रों में से एक है। द्विवेदी जी की आदर्शवादिता की छाप उसके चरित्र निर्माण पर भी है।

संसार की नजर में चन्द्रा 'छैंद्दी'- असती है। अपने विवाहित पति को छोड़कर वह गोपाल आर्यक का वरण करती है। वह अपहृता, धर्षिता और परित्यक्ता स्त्री है, समाज में जिसकी कोई जगह नहीं होती। गोपाल आर्यक के प्रति वह विवाह के पहले से ही आसक्त है जबकि पिता द्वारा उसका विवाह अन्यंत कर दिया जाता है। गोपाल को वह भूल नहीं पाती और अपनी इस दृढ़ता के कारण न सिर्फ गोपाल उसे मिलता है, उसकी पत्नी मृणाल का प्रेम और आदर भी उसे मिलता है। इस प्रकार गोपाल आर्यक उसका शास्त्रविहित नहीं मनोवृत्त पति है। चन्द्रा के प्रेम की उत्कटता पर स्वयं लेखक की टिप्पणी है – "चन्द्रा' उद्वेल प्रेम है। प्रेम, जो सीमा नहीं जानता, उचित-अनुचित का विवेक नहीं रखता, जो सदा उफनता ही रहता है। चन्द्रा का प्रेम एक भयंकर भूक्षा है, एक सतत् अतृप्त पिपासा.....।"[18] वह अपने प्रेम पर लज्जित नहीं होती। आरोपित और अनिच्छित सतीत्व का चोला उतारकर वह स्त्रीत्व का वरण करती है। उसके प्रेंम का आत्मविश्वास ही है जो उसे समाज स्वीकार कर लेता है, "मैं आर्यक की पत्नी हूँ और बनी रहूँगी। मैं अपने घर आयी हूँ, मैं अगर कूल-वधू नहीं हूँ तो संसार में कोई कूल-बधू आज तक पैदा ही नहीं हुई।"[19] चन्द्रा समाज से ही नहीं टकराती है बल्कि धर्म को भी चुनौती देती है- "भविष्य में लोग पूछेंगे कि चन्द्रा ने अपने अंतर्यामी के निर्देश से जो प्रेम किया, क्या वह पाप था? धर्मशास्त्र के पास इसका क्या उत्तर है?"[20] कुछ नहीं। इस व्यवस्था में एक स्त्री की इच्छाओं, प्रेम, सम्मान, व्यक्तित्व और निर्णय के लिए कोई उत्तर नहीं है।

स्त्री कोई जड़ वस्तु नहीं है। उसके पास भी चेतना है। इसलिए वह सब समय व्यवस्था में बंधकर नहीं चल सकती है। फिर मनुष्य के चेतना की गति और दिशा तो जड़ वस्तुओं की गति और दिशा की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल और अकथनीय है। इस न बंध पाने वाली गति और दिशाओं का क्या हो? उन्हें दबाना ही उनका इलाज हो। द्विवेदी जी यह प्रश्न भाववादी दृष्टिकोण से करते है। चन्द्रा के मन में गोपाल आर्यक के लिए इतनी संवेदना क्यों है? क्या यह संवेदना निरर्थक है? इसका कोई उद्देश्य होना चाहिए। अगर संवेदना तीव्र है तो इस विवशता के सामने अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, मर्यादा-अमर्यादा का प्रश्न निरर्थक है – "सारी दुनिया कहती है कि चन्द्रा पापिनी है, कुलटा है, आर्यक को पथभ्रष्ट करने वाली है। पर चन्द्रा जानती है कि वह पापिनी नहीं है। आर्यक मेरा जनम-जनम का साथी है। अगर ऐसा न होता तो क्यों पागल की तरह उसके पीछे-पीछे भागती-फिरती/चुम्बक के पीछे भागने वाला लोहा क्या पापी है रे? वह विवश है, लाचार है, उसमें इच्छाशक्ति कहाँ होती है।"[21]

चन्द्रा परकीय प्रेम को अधिकारपूर्वक सामाजिक सम्मान के साथ पाना चाहती है। चन्द्रा के जरिए द्विवेदी जी इस बिन्दु पर विचार करना चाहते हैं कि परकीय प्रेम सदा अपावन नहीं होता। परिस्थितियों और प्रेमिका के अन्तःकरण की आँच ही इस परकीय प्रेम को देवीय प्रेम की कोटि में ला खड़ा कर सकती है। इस दृष्टि से लेखक ने चन्द्रा के विद्रोह और असतीत्व को नैतिक आधार दिया है – कन्या ऋण से मुक्ति पाने के लिए जानबूझ कर नपुंसक से ब्याह दिये जाने की परंपरा का विरोध करते हुए – "जो समाज इस प्रकार के विवाह की स्वीकृति देता है, वह अपने मुँह में कालिख पहले ही पोत लेता है।"[22] आर्यक के प्रति प्रेमोन्मत्त चन्द्रा के प्रति द्विवेदी जी सहृदय है क्योंकि लोक में 'अ-सती' होने का कलंक ढ़ोकर भी वह आर्यक से बंधी है- माँ की तरह उसे मातृत्व भरा संरक्षण देने हेतु, दासी की तरह उसकी सेवा करने हेतु, प्रहरी की तरह उसकी रक्षा करने हेतु। प्रिया की तरह उससे देह-सुख पाने का लोभ उसके मन में कभी नहीं आया, "मैं तो उस गंवार की दासी ही रही हूँ और दासी ही रहूँगी'।[23] अपना कुल परिचय इस प्रकार देती है चन्द्रा। लेकिन साथ ही अपने प्रेम संबंध के विशिष्ट स्वरूप को बनाये रखने के लिए अड़ी भी हुई है कि "मैं उसके लिए आग में कूद जाऊँगी, पर चरणों में अपने को नहीं उड़ेल सकती। कुछ और बताओं बाबा जो मेरे 'स्व-भाव' के अनुकूल हों।'[24] यह रहस्योद्‌घाटन सिद्ध बाबा की तरह पूरी व्यवस्था के सीने में शूल की तरह गड़ जाता है। चन्द्रा के प्रेम को समझने के बाद ही मृणाल उससे कहती है – "तुम्हारा प्रेम सती का प्रेम है।"[25]

चन्द्रा का आकर्षण मानसिक और शारीरिक दोनों ही स्तरों पर है। वह अपने दैहिक आकर्षण को छुपाती नहीं है बल्कि सहजता के साथ स्वीकार करती है। वह छिप-छिपाकर कुछ करने में विश्वास नहीं करती है, "यहाँ जिन स्त्रियों को लोग भली मानते हैं उनमें से कुछ को मैं अच्छी तरह जानती हूँ। वे केवल निर्जीव रुढ़ियों का पालन करती है। उनका भीतर और बाहर सदा साफ नहीं होता। वे छिपाने की कला अवश्य जानती हैं। चन्द्रा को वह कला नहीं आती। इसीलिए वह कुलटा कहलाती है।"[26] मैत्रेयी पुष्पा ने अपने एक लेख में स्त्री की यौनिकता पर लिखती है "कोई स्त्री तन-मन से पतिव्रता पैदा नहीं होती, जैसे पुरुष एक पत्नीव्रती नहीं होता। किसी प्रकार का व्रत मनुष्य का जन्मजात गुण नहीं होता। फिर स्त्री के लिए ऐसा कठोर व्रत किसने बनाया। जिसे मूक पशु भी न निभा पाये। स्त्री निभाती रहती है और उसे सिर हिलाने तक का अधिकार नहीं। पारिवारिक शिंकजा अपनी जकड़ पर इठलाता है और समाज व्यवस्था संतुष्ट रहती है कि मनुष्य की नस्ल का आधा हिस्सा (औरत) मनुष्य (पुरुष) के लिए समर्पित है।"[27]

चन्द्रा जैसी स्त्रियाँ इस व्यवस्था की नींद उड़ाने वाले चरित्र है। चन्द्रा पितृसत्तात्मक समाज का ही अंग है और उस व्यवस्था के कारण वे कम दुःख नहीं झेलती। लेकिन इसी पितृसत्ता में आर्य देवरात और सुमेर काका जैसे व्यक्ति भी हैं जो प्रेम को निर्वाध स्वीकृति देकर सामाजिक दृष्टि से उसे स्वीकार्य बनाते हैं। चन्द्रा जैसी स्त्रियों की उपस्थिति पर रोहिणी अग्रवाल की टिप्पणी है, "आँख में खटकती हैं चन्द्रा जैसी स्त्रियाँ-अपनी निजता में दिपदिपाती, भास्वर अस्मिता से जड़ व्यवस्था की चूलें चरमरा देती स्त्रियाँ। बेशक इनका अनुपात आटे में नमक के समान अति अल्प है, लेकिन अपवाद समीकरणों को बिगाड़ देने की सामर्थ्य तो रखते ही है।"[28]

रेखा

अज्ञेय को 'नदी के द्वीप' की रेखा एक प्रबुद्ध चरित्र है। वह प्रेमी भुवन की सहमति -असहमति की प्रतीक्षा किये बगैर स्वतंत्र निर्णय ले लेती है। जीवन के लम्बे संघर्ष में रेखा की नारी-सुलभ इच्छाएँ मर गयी हैं। भुवन के सम्पर्क से पुनः उसके जीवन में आशा का संचार होता है किन्तु वह किसी भी बंधन से भुवन को मुक्त रखना चाहती है। इसलिए अपने भीतर पल रही भुवन की संतान की वह भ्रूण हत्या कर देती है और इसी संदर्भ में अपने चरित्र को वह अपूर्व दीप्ति से प्रकाशित कर लेती है – "मैं नहीं जानती कि यह भूल है या ठीक, भुवन, कर्म को जज करना मैंने छोड़ दिया है, क्योंकि जब जज करने बैठती हूँ तो मानना पड़ता है कि न्याय करने वाला विधाता ही गलतियाँ करता है...।"[29] तमाम व्यथा और दुख झेलने के बाद रेखा इस सत्य को पा जाती है कि "हम अपने भीतर पकाकर व्यथा को सौंदर्य बनाते हैं-यही सृष्टि का रहस्य है।"[30] वह जानती है कि व्यथा और दुःख, प्यार और सहानुभूति एक सीमा तक ही संग-साथ का कारण बनते हैं उसके बाद ये गतिशील अनुभूतियाँ दो व्यक्तित्वों को परस्पर अलग कर देती हैं। रेखा कहती है "प्यार मिलता है व्यथा भी मिलती है। साथ भोगा हुआ क्लेश भी मिलता, लेकिन क्या ऐसा नहीं है कि एक सीमा पार कर लेने पर ये अनुभूतियाँ मिलाती नहीं, अलग कर देती है, सदा के लिए और अन्तिम रूप से। अनुभूतियाँ गतिशील है अतीत होकर भी निरंतर बदलती रहती हैं।"[31]

रेखा-पूर्णतः बौद्धिक चरित्र है इसके प्रणय संबंधों में भी भावुकता की जगह बौद्धिकता है। उपन्यास में वह हेमेन्द्र की परित्यक्ता है और भुवन की प्रेयसी। चन्द्रमाधव भी उसके व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित है। पति द्वारा उसे त्यागना उसे अकेलेपन और नौकरी की खोज की और धकेल देता है। सामाजिक मान्यताए और रुढ़िवाद पुरुष प्रधान समाज उसे एक जटिल व्यक्तित्व बना देते हैं, और अब चिंतन का समान धरातल रखने वाला वैज्ञानिक भुवन उसे मिलता है तो वह दुगने वेग से उसके प्रति आकृष्ट होती है। यह आकर्षण प्रेम में परिणत होता है और वह गर्भवती होती है। परन्तु हेमेन्द्र का पत्र उसे इस निर्णय के लिए बाध्य कर देता है कि वह भुवन की सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए भ्रूण हत्या करे, रेखा स्वयं अपने स्वप्नों की हत्या कर देती है किन्तु इसके लिए उसमें कहीं भी कुंठा या ग्लानि नहीं है। वह भुवन के विवाह प्रस्ताव को भी अस्वीकृत कर देती है क्योंकि वह 'प्यार' के बदले उसका भविष्य नहीं लेना चाहती।

रेखा के लिए प्रेम प्रतिदान अथवा सुरक्षा की आकांक्षा से निरपेक्ष उत्सर्ग है। उसके लिए प्रेम समर्पण है, अहं की पुष्टि के लिए समर्पण नहीं, अंह का ही समर्पण है। नौकुछिया ताल प्रसंग के बाद भुवन सोचता है – "कैसे यह स्त्री सब

कुछ इस तरह उत्सर्ग कर दे सकती है, बिना कुछ प्रतिदान मांगे, बिना कोई सुरक्षा चाहे बल्कि सुरक्षाओं की सब संभावनाओं को लात मारकर? क्यों? क्योंकि वह भुवन को प्यार करती है, उसे कुछ देना चाहती है? कुछ नहीं, सबकुछ, अपना आप। कैसी विडंबना है स्त्री की शक्ति की, कि उसका श्रेष्ठ दान है स्वतः अपना लय – अपना विनाश! लेकिन लय के बिना और श्रेष्ठ दान कौन सा हो सकता है? अंह की पुष्टि के लिए समर्पण नहीं, अंह का ही समर्पण है।"[32]

भुवन के विवाह प्रस्ताव की रेखा द्वारा अस्वीकृति में आत्मपीड़ा में गौरवान्वयन की प्रवृत्ति खोजना, उसके साथ अन्याय करना होगा। यह सही है कि उसमें व्यथा पाने की असीम अन्तः सामर्थ्य था लेकिन वह इसलिए कि आनन्द की असीम क्षमता भी उसमें थी। यही कारण है कि प्रेम के इस अनुभव को चरम तृप्ति (फुलफिलमेंट) के तौर पर ले सकी– "भुवन, जाने से पहले मैं एक बात कहना चाहती हूँ। आई एम फुलफिल्ड। अब अगर मैं मर जाऊँ तो परमात्मा के प्रकृति के प्रति यह आक्रोश लेकर नहीं जाऊँगी कि मैंने कोई भी फुलफिलमेंट नहीं जाना– कृतज्ञ भाव ही लेकर जाऊँगी परमात्मा के प्रति और भुवन, तुम्हारे प्रति।"[33] वास्तव में तृप्ति की यह अनुभूति उसे परम शान्ति देती है, उसके भीतर की सारी वेचैनियों-विकलताओं और प्रश्नों को निर्मूल कर देती है– "फुलफिल्ड, शान्त, स्तब्ध, निर्वाक, मैं बस हूँ, कोई प्रश्न मेरे भीतर नहीं उठता और भविष्य से मैं कुछ पूछना नहीं चाहती।"[34] इस अमूल्य अनुभव की दीप्ति उसके अतःकरण को आलोकित किये रहती है, जिसकी क्रान्ति सहसा उसके चेहरे पर फैल जाती तो बूढ़ी मिसेज ग्रीब्ज चकित होकर देखने लगती। अपनी इस चरम अनुभूति दो वह 'सुन्दर' की संज्ञा देती है – "जब तक जो है उसे सुन्दर होने को भुवन, जब वह न हो तो उसका न होना भी सुन्दर हो।"[35]

रेखा में विवाह के आमंत्रण के प्रति अस्वीकार का भाव जिस मनोभूमि से पैदा होता है, उसका निर्माण अनेकानेक तर्कों से हुआ है। उसकी दृष्टि में एक और अद्वितीय तथा दूसरी किसी भी बात से असंबद्ध प्रस्ताव ही स्वीकार्य हो सकता है। जबकि उसे लगता है कि यह सामाजिक मर्यादाओं का निर्बाह करने की विवशता से उपजा है। यदि वह गर्भवती न हो गयी होती तो भुवन यह सब नहीं कहता – "न भुवन! बात वही है। तुम कुछ नहीं कहो, मैं भूल सकती कि – जो हुआ है वह न हुआ होता तो – तुम न माँगते – न कहते, इसलिए तुम्हारा कहना – परिणाम हैं। और यह कहना परिणाम नहीं, कारण होना चाहिए, तभी मान्य-तभी उस पर विचार हो सकता है।"[36] रेखा के इस निर्णय के लिए यदि एक ओर उसके भीतर बन्द ' 'एक आरे की तरह काटता हुआ अतीत' उत्तरदायी है तो दूसरी और वैवाहिक संबंधों की सामान्य परिणतियाँ भी? विवाह उसके जीवन में असुन्दर का ही प्रतीक बनकर आया है।

रेखा द्वारा भुवन के विवाह प्रस्ताव का अस्वीकार, नारी जीवन की स्वायत्तता, आत्म-निर्भरता, आत्माभिमान, या आत्मसम्मान, वरण की दृढ़ता और किसी के मंगल के लिए उत्सर्ग की भावना को आलोकित करने वाला चरित्र है। हिन्दी साहित्य के लिए यह नारी का एक नया अद्भूत अपूर्व रुप है– संभावित परन्तु आदर्श नारी का। विवाह में असुन्दर का अनुभव, बंधी हुई होना, गौरा को दिया हुआ अभिवचन, भुवन द्वारा अपनी भावना का निश्चित प्रकटीकरण न करना; घृष्ट साहसिका हो सकने की शंका का अस्पष्ट बोध, दूसरे पर भार न डालने की इच्छा, भुवन का भविष्य– ये सारी बातें उस निर्णय को दृढ़ बनाने में सहायक हुई हों परन्तु मूलभूत चीज है नारी की स्वायत्तता की रक्षा। और यह निर्णय पर्याप्त सोच-विचार के बाद-संभवतः तर्क से परे केवल विवेक के देवता को साक्षी रखकर किया गया, "सारी दलीले' मैं अपने को दे चुकी हूँ। अब जो कहती हूँ, वह उस सबके बाद है ... समझ लो कि यह निचोड़ है मेरी संचित की हुई तर्कातीत हठधर्मों का।"[37] रेखा के अन्त में पुनः विवाह के फैसले पर डॉ. के.पी. प्रमिला की टिप्पणी है, "उपन्यास के आरम्भ में रेखा में विवाह से ऊब है तो अन्त में आकर रेखा का पुनःविवाह समझौता नहीं, यांत्रिक सात्वंना का मोह सिद्ध होता है, जो व्यक्ति के त्यागमय सत्य के रूप में चिह्नित किया गया है। इस प्रकार 'प्यार' को बनाए रखने के लिए वह स्वत्व की सच्चाईयों से भागती है पर यहाँ मुक्त प्यार की परिकल्पना भी प्यार के ही बन्धन में डूब जाती है।"[38]

डॉक्टर रमेशचन्द्र से विवाह तय होने पर भी रेखा की भीतरी तपिश खत्म नहीं हुई थी। भुवन को लिखती है, "यह क्या है, भुवन? बरसों मैं श्रीमती हेमेन्द्र कहलाई, उसके क्या अर्थ थे? अब अगले महीने से श्रीमती रमेशचन्द्र कहलाऊँगी – उसके भी क्या अर्थ है? कुछ अर्थ तो होगे, अपने से कहती हूँ, पर क्या, यह नहीं सोच पाती... मैं इतना ही सोच पाती हूँ कि मेरे लिए यह समूचा श्रीमतिल मिथ्या है, कि मैं तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी, तुम्हारी ही हुई हूँ, और किसी की कभी नहीं, न कभी हो सकूँगी।"[39] यह रेखा की सच्चाई है।

रेखा के व्यक्तित्व की विशेषता यह है कि हमें ऐसा नहीं लगता कि वह जीवन से दूर सामान्य अनुभूतियों से दूर रहकर एक खास किस्म की ओढ़ी हुई जिन्दगी जी रही है। बल्कि वह ऐसी एक जिन्दगी की खोज कर रही है, ऐसी अनुभूतियों की खोज कर रही है जिसमें पूरी जीवन्तता हो। वह जीवन को ओढ़ना नहीं, जीवन को जी लेना चाहती है। उपन्यास भर में उसकी यही कोशिश रही है। यह अलग बात है कि वह पूरी तरह से विजयी हुई या नहीं। वह अपनी कोशिश जारी रखती है। सामाजिक प्रतिमानों के बल पर सही अपनी परिसीमाओं के बल पर इस कोशिश को वह सर्वथा निजी समझती है। नेमिचन्द्र जैन ने अपने पुस्तक 'अधूरे साक्षात्कार' में रेखा के व्यक्तित्व पर टिप्पणी की है – "हिन्दी कथा साहित्य में रेखा जैसी नारी दूसरी नहीं है। वह हमारे आज के समाज के अमानवीय नीति विधान के विरुद्ध तीखे किन्तु ऊपर से शान्त विद्रोह की मूर्ति है। उसका विद्रोह किसी तीव्र रोष अथवा किसी सामाजिक कार्य में प्रकट नहीं होता। वह मूलतः आवेग के स्तर पर, भाव-जगत के स्तर पर ही प्रकट होता है जो अपने आप में एक नई बात है। हिन्दी कथा साहित्य में इस प्रकार की जितनी नारियाँ चित्रित हुई है। वे सब तपस्विनी बन जाती है। रेखा अपने व्यक्तित्व की संपूर्णता की खोज में अपने भाव जगत की परिपूर्णता की खोज में बड़े आत्मविश्वास के साथ बढ़ी चली जाती है। इसमें

कोई संदेह नहीं कि इतनी संवेदनशील, सजग, गौरवमयी और भी आधुनिकनारी का चरित्र हिन्दी उपन्यास में दूसरा है ही नहीं।"[40]

(4) पिजड़े के साथ उड़ती मैना : तलाकशुदा स्त्री

सामाजिक पारिवारिक संरचना की कुछ बुनावट ही ऐसी है कि स्त्री की आजादी का हर चरण उसे दंश ही देता है। शकुन (आपका बंटी) मन्नू भण्डारी की नायिका भी ऐसी स्त्री है जो पिजड़े में होकर भी दुःखी थी आजाद हुई तो पिजड़ा भी साथ उड़ने को है। शकुन अजय से मुक्त होने पर 'परित्यक्ता' होने की चुभन सहती है। अकेलेपन की पीड़ा सहती है। अकेलेपन की भावनात्मक असुरक्षा के कारण ही वह हर रोज बंटी को कहानियाँ सुनाती है, "राजा-रानी की, परियों की, ऐसे-ऐसे राजकुमारों की जो अपनी माँ को बहुत प्यार करते थे। और जो अपनी माँ के लिए बड़े-बड़े समुद्र तैर गये थे और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ पार कर गये थे।"[41] बंटी के लिए ममी ही सबकुछ होती है। लेकिन ऐसा बच्चा भी मिसेज जोशी के लिए 'अनावश्यक प्रसंग' या 'अनावश्यक तत्व' बन जाता है। ममी पर एकल अधिकार जताने पर वह ममी की नई दुनिया की 'बाधा' बन जाता है। गरिमापूर्ण 'मातृत्व' का पद खण्ड-खण्ड हो जाता है। इस नई समस्या को लेकर लेखिका चिन्ताग्रस्त है - "स्वतंत्र व्यक्तित्व, आकांक्षाओं और आजीविका के साधनों से तृप्त 'माँ' का क्या होगा? क्या सचमुच यह कहानी सोनल रानी की भी है, जो भूख लगने पर रूप बदलकर अपने बेटे को खा जाती है।"[42]

लेखिका की इस टिप्पणी पर आलोचक निर्मला जैन ने अपनी सहमति व्यक्त करते हुए लिखा है, "इस पूरे उपन्यास की बुनावट में वस्तुगत स्थितियों से ज्यादा शकुन की वे मनःस्थितियाँ महत्वपूर्ण है जो इलन स्थितियों को जोड़ती-बनाती चलती है। "शकुन बंटी को माध्यम बनाकर अजय से लड़ना चाहती है। वह सोचती है कि 'बंटी केवल उसका बेटा ही नहीं, बल्कि वह हथियार भी हो जाता जिससे वह अजय को टॉरचर कर सकती है, करेगी। और बंटी से न मिल पाने की वजह से अजय को जो यातना होगी, उसकी कल्पना मात्र से उसे एक क्रूर-सा संतोष मिलने लगता है। शकुन का सारा जीवन इसी एक लक्ष्य से नियंत्रित होता है "सामनेवाले को पराजित करने के लिए जैसा सायास और सन्नूद्ध जीवन उसे जीना पड़ा, "उसने उसे खुद ही पराजित कर दिया। सामनेवाला व्यक्ति तो पता नहीं कब परिदृश्य से हट भी गया और आज तक उसी मुद्रा में, उसी स्थिति में खड़ी है - साँस रोके, दम साधे घुटी-घुटी और कृत्रिम।"[43] यह कृत्रिमता और द्वन्द्व तब एक स्त्री की स्वाभाविक सी स्थिति हो जाती है जब उसके पास खोने के लिए सबकुछ होता है और पाने के लिए कुछ भी नहीं।

एक प्रश्न यहाँ विचारणीय है कि क्यों लेखिका अन्त तक यह स्थापित कर ही देती है कि स्त्री-पुरुष संबंधों में चाहे कुछ भी हो लेकिन बच्चों की खातिर उन्हें जुड़े रहना चाहिए, परिवार को बनाये रखना चाहिए। और इसकी सारी जिम्मेदारी शकुन की बनती है। कुल मिलाकर संदेश यही निकलता है कि परिवार और विवाह-संस्था में 'यथास्थिति' बनाये रखो, बरना परिवार टूटेगा तो समाज कैसे बचेगा? देश कैसे बचेगा? हाय! बेचारा बंटी क्या करें? परंपरा, परिवार और पुत्र के संस्कारों की 'यथास्थिति' को बनाये-बचाये रखने की सीख देती फूफी (या उसके माध्यम से समाज) बार-बार तलाक का विरोध करते हुए कहती है, "अरे, हाथ पकड़कर निभाने की मर्दानगी जिनमें नहीं, होती, वह ऐसे ही मर्दानगी दिखाते हैं। अनबन किसमें नहीं होती तो क्या ब्याही औरत को यों छोड़ दिया जाता है। इसके बाद शकुन द्वारा डॉ. जोशी से पुनर्विवाह करने पर कहती है, "जवानी यों ही अन्धी होती है बहू, फिर बुढ़ापे में उठी हुई जवानी। महासंत्यानशी। साहब ने जो किया, तो आपकी मुट्टी-पलीद हुई और अब आप जो कर रही है, उससे बच्चे की मट्टी पलीद होगी।"[44] यह दाम्पत्य की वही पारंपरिक धारणा है जहाँ स्त्री के सिर पर ही इसे बनाये रखने की जिम्मेदारी होती है।

शकुन अलग होकर जब अपने संबंध पर एक नजर डालती है तो उसे लगता है, "उसने कई बार अपने और अजय के संबंधों के रेशे-रेशे उधेड़े है - सारी स्थिति में बहुत लिप्त होकर भी और सारी स्थिति से बहुत तटस्थ होकर भी, पर निष्कर्ष हमेशा एक ही निकला है कि दोनों ने एक-दूसरे को कभी प्यार किया ही नहीं।' हालांकि दोनों के बीच 'प्रेम के नाटक भी हुए थे और तन-मन को डुबो देने वाले विभोर क्षणों के अभिनय भी। पता नहीं, उन क्षणों में कभी भावुकता, आवेश या उत्तेजना रही भी हो' पर 'शायद उन दोनों के ही दयालु मनों ने कभी उन्हें उस रूप में ग्रहण ही नहीं किया। दोनों ही एक दूसरे की हर बात, हर व्यवहार और हर अदा को एक नया दाँव समझने को मजबूर थे और इस मजबूरी ने दोनों के बीच की दूरी को इतना बढ़ाया– इतना बढ़ाया कि फिर बंटी भी उस खाई को पाटने के लिए सेतु नहीं बन सका, नहीं बना।"[45]

अगर दोनों 'प्रेम का नाटक' या 'अभिनय' ही कर रहे थे, तो फिर 'साथ रहने की यंत्रणा' के बाद 'अलगाव का त्रास' क्यों? और क्यों यह उम्मीद या संभावना कि 'अलग रहकर ही शायद सही तरीके से महसूस होगा कि सामनेवाले को खोकर क्या कुछ अमूल्य खो दिया है। ऐसा लगता है कि दोनों के बीच तनाव का कारण प्रेम नहीं, 'एक-दूसरे को पराजित करके अपने अनुकूल बना लेने की आकांक्षा है। शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के बावजूद शकुन के 'स्वतंत्र व्यक्तित्व'- में स्वेच्छा से निर्णय ले पाने की क्षमता, समझ, साहस और विवेक का विकास नहीं हो पाया है। उसके अवचेतन में सामाजिक असुरक्षा का भाव इस कदर कूट-कूटकर भरा हुआ है कि उसे बार-बार लगता है 'औरत कहीं भी पहुँच जाए, फिर भी पुरुष का साथ उसके लिए कितना जरूरी है।' पर वह 'साथ हो, सही अर्थों में'..... यही शकुन की त्रासदी, विडंबना और यातना है।

शकुन के अन्दर से यह संस्कार नहीं जा पाता है कि 'औरत कहीं भी पहुंच जाए, फिर भी पुरुष का साथ उसके लिए जरूरी है' सामाजिक 'प्रतिष्ठा और सुरक्षा' के लिए। और फिर व्यक्तिगत स्तर पर 'अजय को उसे दिखा ही देना है कि वह अगर एक नई जिंदगी की शुरुआत कर सकता है, तो वह भी कर सकती है। इसके बिना समाज में स्त्री-पुरुष बराबर कैसे होगे? आखिर दोनों को बराबरी के अधिकार प्रदान किये हैं भारतीय संविधान ने। वह यह भी अच्छी तरह जानती है कि इससे अजय की सेहत पर कोई फर्क नहीं पड़नेवाला और इसीलिए अगले ही क्षण कहने लगती है, "नहीं, उसे किसी को कुछ नहीं दिखाना है, जो कुछ भी करना है, अपने लिए करना है।"[46] यह उसकी व्यक्तिगत वाचाल महत्वाकांक्षा और देह की माँग नहीं, बल्कि सामाजिक विवशता भी है कि तलाकशुदा अकेली औरत को समाज आज भी सम्मान की नजर से कहाँ देखता है? क्या यही कारण तो नहीं कि अधिकांश स्त्रियाँ तलाक से आतंकित और तलाक के बाद फिर-फिर विवाह करने को विवश है? एक ऐसी आजाद मैना जो पिजड़े को भी साथ लेकर उड़ती है। शकुन नाम की औरत के संबंधों की सामाजिक सीमा है - बेटी, बहन, पत्नी, प्रेमिका या माँ होना। इससे बाहर निकलकर व्यक्ति या व्यक्तित्व होना 'खतरा' है ..... 'अपराध' है। एक संबंध में मुक्त होने की विवशता से लेकर दूसरे संबंध में बँधने की मजबूरी के पीछे स्त्री कितनी अपमानित, आहत और असहाय है। इसका सिर्फ अनुमान ही लगाया जा सकता है। कवियत्री स्नेहमयी चौधरी के शब्दों में शकुन जैसी स्त्रियों की पीड़ा कुछ ऐसी है-

"बाहर आने पर भी तो
उतना ही लहुलुहान होती है
जितनी अंदर रहने पर,
जान नहीं पा रही - कहाँ कम, कहाँ ज्यादा?"[47]

संदर्भ :

1. धर्म और समाज, डॉ. राधाकृष्णन, पृ. 213
2. हेमलता महेश्वर – स्त्री लेख और समय के सरोकार,, पृ. 50
3. वही, पृ. 51
4. स्त्री उपेक्षिता : सीमोन, (प्रभा खेतान), पृ. 358
5. वही, पृ. 259
6. तत्सम–राजीसेठ, पृ. 39
7. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की श्रृंखला, पृ. 150
8. कंकाल–प्रसाद, पृ. 25
9. वही, पृ. 25
10. चुनौती–जो औरत है – मस्तराम कपूर (स्त्री, परंपरा और आधुनिता), पृ. 39
11. पचपन खम्भे लाल दीवारें – उषा प्रियबंदा, पृ. 100
12. वही, पृ. 26
13. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़िया, लेख (हिन्दू पत्नी का पत्नीत्व) पृ. 85
14. पचपन खम्भे लाल दीवारें – उषा प्रियबंदा, पृ. 22
15. पचपन खम्भों लाल दीवारें – उषा प्रियबंदा, पृ. 33
16. बधिया स्त्री, जर्मेन ग्रीयर, पृ. 107
17. बधिया स्त्री, जर्मेन ग्रीयर, पृ. 98
18. पुनर्नवा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 107
19. पुनर्नवा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 135
20. पुनर्नवा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 188
21. पुनर्नवा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 125
22. पुनर्नवा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 195
23. पुनर्नवा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 193
24. वही पृ. 194
25. वही पृ. 207
26. वही पृ. 216
27. मैत्रेयी पुरुषा, कथा साहित्य में सती पूजा, हंस जुलाई 04, पृ. 37
28. रोहिणी अग्रवाल, बाणभट्ट की आत्मकथा, पाठ–पुनर्पाठ, पृ. 60
29. नदी के द्वीप, अज्ञेय, पृ. 238
30. नदी के द्वीप, अज्ञेय, पृ. 279
31. नदी के द्वीप, अज्ञेय, पृ. 279
32. नदी के द्वीप, अज्ञेय, पृ. 137

33. नदी के द्वीप, अज्ञेय, पृ. 159
34. नदी के द्वीप, अज्ञेय, पृ. 163
35. नदी के द्वीप, अज्ञेय, पृ. 279
36. नदी के द्वीप, अज्ञेय, पृ. 214
37. नदी के द्वीप, अज्ञेय, पृ. 279
38. आधुनिक हिन्दी साहित्य : विविध आयाम, वी.के. अब्दुल जलील, पृ. 96
39. वही, पृ. 315
40. नेमिचन्द्र जैन, अधूरा साक्षात्कार, पृ. 23
41. आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ. 14
42. आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ. 7
43. आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ. 85
44. आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ. 57
45. आपकी वंटी, मन्नू भण्डारी, पृ. 67
46. आपकी बेटी, मन्नू भण्डारी, पृ. 73
47. औरत : अस्तित्व और अस्मिता, अरविंद जैन, पृ. 86

साहित्य तथा समाजशास्त्र : संक्षिप्त विश्लेषण

प्रो0 (डॉ0) सुभाष चन्द्र सिंह
विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र
शेरशाह कॉलेज, सासाराम, बिहार

साहित्य को समाज का दर्पण कहा ही जाता है अर्थात समाज में जो कुछ घटित होता है, वह कमोवेश या दूसरे रूपों में साहित्य में परिलक्षित होता है। कभी–कभी ऐसा नहीं भी होता है। रचना अपने स्वतंत्र भाषिक सौंदर्य में ही सम्पूर्ण होती है। कविता में यह अक्सर देखी जाने वाली प्रवृत्ति है।

प्रेमचन्द ने साहित्य को 'जीवन की आलोचना' के रूप में परिभाषित किया है। मनुष्य समाज, जीवन के इस विराट फलक में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक हैं। साहित्य के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की टिप्पणी– 'जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चितवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।'[1]

'जनता की चित्तवृत्ति' और साहित्य के स्वरूप का पारस्परिक संबंध ही, समाजशास्त्र का आधार है। जनता की चित्तवृत्ति का बदलाव, समाज को भी अनिवार्य रूप से बदलता है और इसी के फलस्वरूप समाज विकसित अथवा विघटित भी हो सकता है। परंतु प्रश्न यहां यह विचारणीय है कि क्या सामंती समाज में जनता की कारगर या अहम भूमिका होती है? साहित्य के रूप में इसीलिए एक ही कालखण्ड में अनेक प्रवृत्तियां दिखाई देती है। धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिदृश्य को इन प्रवृतियों के रूप में, अलग–अलग, एक ही कालावधि में देखा जा सकता है। एक तरफ सामंती दरबार को प्रिय साहित्य रचा जा रहा होता है तो दूसरी तरफ धर्म अथवा मतों का निरूपण करता साहित्य होता है। इसी प्रकार, लोक का अपना जीवन मौखिक रूप में अभिव्यक्त होता चलता है। यह प्रायः लिखित रूप में नहीं होता।

अस्तु, साहित्य के समाजशास्त्र और उसकी समस्याओं को विश्लेषित करने से पहले समाजशास्त्र को समझना उचित ही होगा।

'समाजशास्त्र एक ऐसा विषय है जिसकी छवि मिश्रित है। एक तरफ बहुत से लोग मानते हैं कि यह विद्रोह को बढ़ावा देता है और उसे क्रांति की ओर ले जाता है। ऐसे लोगों की समाजशास्त्र में अध्ययन किए जाने वाले ठोस विषयों के बारे में मात्र एक अस्पष्ट सी धारणा होती है। वह समाजशास्त्र को व्यवस्था का विरोध करने वाली प्रणाली मानते हैं, जहां विद्रोही, धूसरित छात्रों की तीखी मांगों को उठाया जाता है। दूसरी तरफ, इसी विषय के बारे में बिलकुल अलग धारणा भी है और शायद पहले वाली धारणा से अधिक लोकप्रिय। यह उन लोगों में प्रचलित है जिन्हें समाजशास्त्र का कुछ हद तक प्रत्यक्ष ज्ञान स्कूलों और विश्वविद्यालयों में मिला है। इस धारणा के अनुसार यह एक बोझिल, एकरस विषय है और छात्रों को आंदोलन की राह पर ले जाने के बजाय इससे बिल्कुल ही साधारण स्तार का ज्ञान होता है। समाजशास्त्र इस रूप में नीरस विज्ञान तो बन जाता है पर प्राकृतिक विज्ञान की तरह ज्ञानवर्द्धक नहीं हो पाता जिसकी छवि के अनुसार इसे ढालने की कोशिश की जाती है।'[2]

एंथनी गिडेन्स प्रसिद्ध समाजशास्त्री रहे हैं। उन्होंने माना कि 'दूसरी धारणा' अर्थात यह मानने वाले कि समाजशास्त्र एक नीरस विज्ञान है; कि यह छात्रों को आंदोलन की राह पर ले जाने की अपेक्षा साधारण ज्ञान देने वाला बोझिल और एकरस विषय है– सत्य के अधिक निकट है। परंतु प्रखर समाजशास्त्री टी.बी. बाटमोर इसे एक नया विज्ञान मानते हैं।

वे लिखते हैं– 'हजारों साल से लोग जिन समाजों और समूहों में रह रहे हैं, उन्हें उन लोगों ने परखा है और उनके बारे में सोचा है। फिर भी समाजशास्त्र एक नया विज्ञान है, तकरीबन सौ साल पुराना। अगस्त कोन्त ने विज्ञानों का वर्गीकरण करते हुए समाजशास्त्र को तार्किक दृष्टि से और तारीख वार भी दूसरे विज्ञानों के बाद रखा है जो सबसे कम सामान्य और सबसे अधिक जटिल है जबकि सबसे मशहूर एक आधुनिक नृतत्वशास्त्री ने बहुत हाल में कहा कि 'मानव का विज्ञान अब भी काफी बचपन में है।

यह सही है कि तमाम सभ्यताओं और युगों के दार्शनिकों, धर्मगुरुओं और कानून के जानकारों ने जो कुछ लिखा है उसमें बहुतेरा ऐसा चिंतन–मनन है, जो आधुनिक समाजशास्त्र के लिए भी प्रासंगिक है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और अरस्तू के पोलिटिक्स में राजनीतिक व्यवस्था का इस तरह विश्लेषण किया गया है कि वह आज भी समाजशास्त्री के लिए दिलचस्प है। बहरहाल यह सच है कि उन्नीसवीं सदी में केवल एक नया नाम नहीं, बल्कि समाज का एक नया विज्ञान पैदा हुआ।'[3]

समाजशास्त्र के चार स्रोत बताए जाते हैं– राजनीति दर्शन, इतिहास दर्शन, जीव विज्ञान का विकास सिद्धांत और सामाजिक–राजनीतिक सुधारों के आंदोलन जिनके लिए सामाजिक स्थितियों का सर्वेक्षण जरूरी होता है।

बॉटमोर ने इनमें से दो को अधिक महत्व का माना है। इतिहास दर्शन और सामाजिक सर्वेक्षण ऐसे दो स्रोत हैं। यही दो स्रोत साहित्य में समाजशास्त्र की भूमिका भी स्थापित करते हैं। आचार्य शुक्ल भी इसीलिए अपने इतिहास ग्रंथ में, साहित्य को 'जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब' कहते हैं। साथ ही वे मानते हैं कि इसमें लगातार बदलाव होता रहा है। आशय यह कि यह सतत परिवर्तनशील है।

जैसा कि हम जानते हैं कि समाज और साहित्य परस्पर आश्रित भी होते हैं और एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। सामाजिक घटनाएं, साहित्य का हिस्सा बनती हैं और साहित्य के परिणामस्वरूप कभी–कभार समाज की गतिविधियां प्रारंभ होती हैं। साहित्य के समाजशास्त्र की शुरूआत बीसवीं शताब्दी में मानी जाती है।

डॉ. बच्चन सिंह ने 'मार्क्सवादी आलोचना और समाजशास्त्र के रिश्तों को स्पष्ट करने की कोशिश की है। वे लिखते हैं– 'साहित्य का समाजशास्त्र बीसवीं शताब्दी का पौधा है। जिन कारणों से यह अमेरिका और यूरोप में पोषित हो रहा है, उन्हीं कारणों से यह अपने देश में भी दिखाई पड़ने लगा है। आश्चर्य तो तब होता है जब हिन्दी के कुछ मार्क्सवादी आलोचक भी इसकी वकालत करने लगे हैं। यही नहीं कोशिश यह हो रही है कि मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय दृष्टि को इसी में अंतर्भुक्त कर लिया जाए और इस तरह एक चालाकी के तहत एक क्रांतिकारी और व्यापक दृष्टिकोण से लोगों को दूर कर दिया जाए। जिस तरह मार्क्सवादी समाजशास्त्र के समानान्तर एक दूसरा समाजशास्त्र (मुख्यतः अमरीकी) विकसित हो रहा है, उसी तरह मार्क्सवादी आलोचना के समानान्तर 'साहित्य का समाजशास्त्र' प्रस्तुत किया जा रहा है।'[4]

इस संदेह और आपत्ति के बावजूद डॉ. बच्चन सिंह ने माना है कि इससे भी आपत्ति नहीं हो सकती है बशर्ते कि इस 'समाजशास्त्र' में कुछ ऐसे तत्व भी हों जो साहित्य की समझदारी में सहायक सिद्ध होते हों।'[5]

डॉ. बच्चन सिंह ने साहित्य और समाज के संबंध पर विचार करते हुए यह भी माना है कि इसके सूत्र भारत में भी मिलते हैं। वे लिखते हैं– 'चूंकि समाजशास्त्र आधुनिक युग का नया विषय है, मार्क्सवादी विचारधारा के कारण इस पर और जोर दिया जाने लगा, इसलिए साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन भी आवश्यक हो गया। किंतु ध्यान रखना होगा कि साहित्यिक अध्ययन या आलोचना के लिए यह एकमात्र प्रणाली नहीं है। इस पद्धति को आधार बनाकर भी स्व–विवेक की अपेक्षा है। काव्य और समाज के सम्बन्धों पर पश्चिम में ही विचार नहीं हुआ है, भारत में भी, विस्तार से न सही, इसकी ओर आचार्यों का ध्यान गया है– विशेष रूप से राजशेखर का।'[6]

बच्चन सिंह का मानना है कि 'समाजशास्त्रीय अध्ययन का मूलाधार उपन्यास है। यह औद्योगिक समाज का उत्पादन है।'[7]

यह एक हद तक सही माना जा सकता है क्योंकि उपन्यास में जिस तरह यथार्थ का चित्रण होता है तथा समाज के विभिन्न अंगों, संस्थाओं और गतिशील केन्द्रों यथा आंदोलन आदि की उपस्थिति रहती है, उस तरह कविता में नहीं रहती। ऐसा भी नहीं कि यह कविता में एकदम नदारद है और उपन्यास में हमेशा बनी रहती है।

कविता के समाजशास्त्र के ठीक से विकसित न होने का अफसोस अधिकांश आलोचकों को रहता है। लुसिए गोल्डमान तक ने कविता की समाजशास्त्रीय पड़ताल में बहुत देर तक हाथ नहीं डाला। काफी देर बाद उन्होंने इसकी शुरुआत की भी तो बहुत कुछ झिझकते हुए। सेंट जान पर्सी की एक कविता का उन्होंने विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण को स्वयं उन्होंने नाकाफी और कच्चा माना है।

इसका क्या कारण है? वह मानते हैं कि 'कविता में भाषिक संरचनाएं उपन्यास और नाटक से अधिक महत्वपूर्ण होती है और भाषिक संरचनाओं के विश्लेषण के अभाव में कविता की व्याख्या मुश्किल होगी। सेंट जॉन पर्सी की कविता के अपने विश्लेषण की सीमाओं के बारे में सजग होने के कारण ही गोल्डमान ने उसे आरंभिक, आंशिक, अपूर्ण और कामचलाऊ कहा है।'[8]

इसका अर्थ यह है कि कविता को समझने के लिए समाजशास्त्र का उपलब्ध ढांचा सक्षम नहीं है। कविता अपने भाषिक सौंदर्य में भी होती है और वस्तु में भी। समाजशास्त्र, उसकी वस्तुगत समीक्षा तो कर सकता है परंतु सौंदर्य पर आकर ठिठक कर खड़ा हो जाता है। यह उसके विषय के बाहर पड़ता है।

प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए लिखा है– 'गोल्डमान ने लिखा है कि उनके इस अपूर्ण और कामचलाऊ विश्लेषण के आधार पर कोई दूसरा आलोचक सेंट जॉन पर्सी की कविता की अर्थवत्ता और कला का पूर्ण और बेहतर विश्लेषण कर सकता है। यह लगभग वैसी ही बात है जैसी मुक्तिबोध ने कामायनी की समाजशास्त्रीय व्याख्या के अंत में कही है। मुक्तिबोध ने 'कामायनी एक पुनर्विचार' के अंत में स्वयं यह प्रश्न किया है, 'क्या यह आवश्यक नहीं कि कामायनी के साहित्यिक सौंदर्य का भी विवेचन किया जाए?' उन्होंने स्वयं उत्तर दिया है, 'पाठक का यह आदि कर्तव्य और प्रथम धर्म है कि वह कलात्मक सौंदर्य को आत्मसात करते हुए कृति के मर्म में प्रवेश करें।' लेकिन कैसे? मुक्तिबोध ने कामायनी के पाठकों को सलाह दी है कि जिन लोगों को कामायनी के सौंदर्य की विवेचनात्मक जानकारी की जरूरत है, उन्हें उन ग्रंथों को पढ़ना चाहिए जिनमें कामायनी के सौंदर्य पक्ष का विवेचन है। क्या यह सलाह कुछ विचित्र नहीं है। क्या एक पाठक कामायनी का सामाजिक अभिप्राय जानने के लिए मुक्तिबोध को पढ़े और उसके सौंदर्यबोध के लिए नंददुलारे वाजपेयी को? मुक्तिबोध यह जानते हैं कि कामायनी की उनकी आलोचना अधूरी है और गोल्डमान भी मानते हैं कि सेंट जान पर्सी की कविता का उनका विश्लेषण अपूर्ण और काम चलाऊ है।'[9]

यह सच में, एक पाठक के लिए ही नहीं, एक आलोचक के लिए भी संकट का कारण है। वह किसी काव्यकृति अथवा कविता की रचना के एक पक्ष पर तो प्रकाश डाले और दूसरा अनदेखा छोड़ने के लिए बाध्य हो– यह दुविधाजनक कार्य है। कविता की सुंदरता और सामाजिक अभिप्राय को साधना वाकई मुश्किल होता है। इसका क्या कारण है?

प्रो. पाण्डेय लिखते हैं– 'कविता की समाजशास्त्रीय आलोचना में ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थितियां अन्यत्र भी मिल जाएंगी। असल में कविता की सामाजिक सार्थकता और कलात्मक महत्ता को एक दूसरे से अलग करके देखने के कारण ही समाजशास्त्रीय आलोचना कभी कुत्सित हो जाती है तो कभी यांत्रिक।'[10]

वास्तव में, कविता के मामले में यह समाजशास्त्रीय आलोचना की ही सीमा या समस्या कहीं जा सकती है। आखिर यथार्थवाद का निर्वाह कविता में हर समय नहीं किया जा सकता है। परंतु समाजशास्त्रीय चिंतन सर्वप्रथम इसी की मांग रचना से करता है। उपन्यास, कहानी, नाटक में उसकी यह मांग एक हद तक पूरी होती है।

प्रो. पाण्डेय ने कविता की प्रकृति और स्वरूप पर विचार करते हुए इसे 'समाजशास्त्रीय विवेचन की एक विडम्बना' कहा है। उनका मानना है कि 'कविता में जीवन–जगत के यथार्थ और अनुभव की अभिव्यक्ति केवल प्रतिनिधिक रूप में ही नहीं होती, प्रतीकात्मक ढंग से भी होती है।'

वे लिखते हैं– 'कविता के समाजशास्त्रीय विवेचन भी एक विडम्बना यह रही है कि कविता में समाज की खोज उसी तरह होती है जैसे उपन्यास और नाटक में। इस प्रक्रिया में कविता की सामाजिकता के विशिष्ट रूप के साथ ज्यादती ही नहीं होती है, उसकी पहचान मुश्किल भी हो जाती है। उपन्यास और नाटक की तरह ही कविता को समझना और उसकी व्याख्या करना इन साहित्य रूपों में मानवीय अनुभव के रूपायित होने की विशिष्टताओं की उपेक्षा करना है। इसी प्रवृत्ति ने यथार्थवाद को साहित्य मात्र का सार्वभौम प्रतिमान बना दिया है। कविता की आलोचना में यथार्थवाद का प्रतिमान की तरह सर्वत्र प्रयोग वास्तव में उपन्यास और नाटक की आलोचना दृष्टि से कविता को देखना है।'[11]

कविता के भी प्रगीत रूप में यह समाजशास्त्रीय विश्लेषण असहाय सिद्ध होता है। कुछ हद तक कथात्मक और वर्णनात्मक कविताओं में यह जरूर कुछ सहायता करता है। समाजशास्त्रीय उपादान और सामाजिक संस्थाओं के कुछ चिन्ह अगर यहां होते हैं तो यह विश्लेषण संभव हो जाता है।

इसीलिए प्रो. पाण्डेय ने निराश होकर लिखा है कि 'कभी–कभी तो ऐसा लगता है कि समाजशास्त्र और कविता के बीच वह मिलन भूमि ही नहीं है जहां समाजशास्त्री कविता का मर्म समझ सके। समाजशास्त्र में 'सामाजिक' की जो धारणा है वह समाज में क्रियाशील संगठनों, संस्थाओं, संबंधों और व्यवहारों पर निर्भर है। वह समाज की वास्तविकताओं के अमूर्तन का सैद्धांतिक सार है। उसमें समाज से स्वतंत्र व्यक्तियों की सत्ता का कोई विशेष महत्व नहीं होता।'[12]

इसके विपरीत 'कविता दूसरे साहित्य रूपों से अधिक आत्मपरक और वैयक्तिक होती है।'[13] किंतु यह कहना अनुचित होगा कि कविता सामाजिक नहीं होती। वह बहुत सघन अथवा जटिल रूप में सामाजिक होती है परंतु प्रेम और प्रकृति की कविताएं सामान्यतः समाजशास्त्रीय विवेचना के लिए मुश्किलें पैदा करती हैं।

इसीलिए प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने भाषा की भूमिका के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है– 'कविता में जीवनानुभव या अनुभूति के रूप का संबंध दूसरे साहित्य रूपों की तुलना में

अधिक आत्मीय और कुछ जटिल होता है। बिम्ब, प्रतीत, संकेत, फैंटेसी आदि कविता के साधन नहीं होते। कई बार साधन और साध्य में अद्वैत या अभेद की स्थिति होती है। फिर लय, छंद और संगीत की आंतरिक संरचना से भी कविता का विशिष्ट रूप बनता है। इन सबकी उपेक्षा करके केवल सामाजिक सत्य खोजना ही साहित्य का समाजशास्त्र कविता का समाजशास्त्र नहीं हो सकता।'[14]

निष्कर्षतः माना जा सकता है कि साहित्य का ऐसा समाजशास्त्र जो कविता की भाषागत संरचना की अवहेलना करते हुए केवल सामाजिक संबंधों और व्यवहारों की विवेचना करने में प्रवृत्त हो, वह कविता के लिए गैर–मुनासिब साबित होगा। कहा जा सकता है कि यह साहित्य के समाजशास्त्र की प्रमुख समस्या है।

अब उपन्यास के संबंध में, अगर हम इस विवेचना की पड़ताल करें तो हम पाएंगे कि वहां यह अधिक सुविधाजनक और सुसंगत है। इसीलिए समाजशास्त्री उपन्यास को अपने सैद्धांतिक विवेचन विश्लेषण के लिए चुनते हैं। परंतु समस्या यहां तब उठती है जब उपन्यास को केवल सामाजिक जीवन का समुच्चय भर मान लिया जाता है और इस तथ्य की अनदेखी की जाती है कि यह एक कला रूप भी है।

यहां दो लेखकों के एक ही सामाजिक विषय पर लिखे दो उपन्यासों की तुलना का भेद समाप्त हो जाता है। तुलना का आधार भाषिक संरचना तो हो ही सकता है, साथ ही कहने की शैली तथा अनुभव की संश्लिष्टता भी होती है।

'उपन्यास का स्वभाव ऐसा है कि वह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति से भागकर उपन्यास नहीं रह सकता। लेकिन केवल सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के कारण कोई उपन्यास कलात्मक कृति नहीं हो जाता। अगर ऐसा होता तो सभी उपन्यासकार, प्रेमचंद होते। यहां तक कि प्रेमचंद के भी सभी उपन्यास समानरूप से कलात्मक नहीं हैं। अंतोनियों ग्राम्शी ने लिखा है कि 'दो लेखक एक ही सामाजिक ऐतिहासिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का प्रयास करते हैं, लेकिन उनमें से एक कलाकार साबित होता है और दूसरा केवल कातिब। इन दोनों की आलोचना करते समय केवल उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि बताना या रचना में व्यक्त यथार्थ की विशेषताएं बताना कला की समस्या से पल्ला झाड़ लेना है। यह सब आवश्यक और उपयोगी है, लेकिन यह कला की आलोचना नहीं है। ग्राम्शी ने जो सवाल उठाया है उससे बचकर उपन्यास का जो समाजशास्त्र बनेगा, वह कला के रूप में उपन्यास का समाजशास्त्र न होगा। ऐसा समाजशास्त्र न तो किसान जीवन पर लिखे प्रेमचंद के उपन्यासों से भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यासों का अंतर समझ पाएगा और न आदिवासी जीवन से संबद्ध महाश्वेता देवी के उपन्यास से राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यासों का फर्क जान पाएगा।'[15]

ठीक इसी तरह, स्त्री उपन्यासकारों द्वारा लिखित उपन्यासों तथा दलित उपन्यासकारों के उपन्यासों में भी वस्तु और सौंदर्य की विवेचना की जा सकती है।

एक पक्ष, ऐतिहासिक, पौराणिक और तिलिस्मी उपन्यासों का भी बनता है, जहां समाजशास्त्रीय विवेचना मुश्किल में पड़ जाती है।

निर्मला जैन, देवकीनंदन खत्री की उपन्यास माला 'चंद्रकांता संतति' पर राजेन्द्र यादव के समाज शास्त्रीय विश्लेषण का हवाला देते हुए लिखती हैं कि 'राजेन्द्र यादव ने चन्द्रकांता संतति वर्ग के उपन्यासों को उस समय की ठेठ सामाजिक चेतना से जोड़कर देखा। तिलिस्म और ऐय्यारी के ऊपरी ढांचे को उन्होंने फैंटेसी के विकृत बिम्बो के रूप में समझा–समझाया है। उन्हें इनमें ऐसे बाहर से पराजित मन की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है जो कम से कम अपनी अपराजेयता की कल्पना में खोए रहने की कोशिश करता है। वे इन्हें 'दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान' कहते हैं।'[16]

एक अन्य स्थान पर वे राजेन्द्र यादव को उद्धृत करते हुए लिखती हैं कि 'राजेन्द्र यादव ने चन्द्रकांता वर्ग के उपन्यासों में 'दौलत को सही हाथों में सौंपने और हथिया लेने के संघर्ष की महागाथा' को भारतीय अस्मिता की खोज के रूप में देखा है।'[17]

इधर समाजशास्त्रीय आलोचना में हिन्दी में आई दलित आत्मकथाओं की वस्तु और सौंदर्य के संबंध में यही सीमा या समस्या सामने आती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' और तुलसीदास की 'मुर्दहिया' या 'मणिकर्णिका' के मध्य तुलना का आधार क्या होना चाहिए?

अंत में यही कहा जा सकता है कि साहित्य के समाजशास्त्र की मुख्य समस्या यह है कि वह दो कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन का कोई प्रतिमान नहीं स्पष्ट कर सका है। साथ ही, यह भी कि साहित्य के समाजशास्त्र में रचना और रचनाकार के देशकाल में अंतर होने पर मूल्यांकन मुश्किल हो जाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.1
2. एंथनी गिडेन्स, समाजशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय, ग्रंथशिल्पी, प्रथम हिन्दी संस्करण, 2008, अनुवाद : अनिल राजिमवाले, पृ. 9
3. टी.बी. बॉटमोर, समाजशास्त्र : समस्याओं और साहित्य का अध्ययन, अनुवाद : गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली–110092, प्रथम हिन्दी संस्करण, 2004, पृ.11
4. डॉ. बच्चन सिंह, साहित्य का समाजशास्त्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2007, पृ.1
5. वही, पृ.1
6. वही, पृ.88
7. वही, पृ.88
8. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, संस्करण 2001, पृ.220
9. पुस्तक वही, पृ. 221
10. पुस्तक वही, पृ. 221
11. पुस्तक वही, पृ. 222
12. पुस्तक वही, पृ. 223–24
13. पुस्तक वही, पृ. 224
14. पुस्तक वही, पृ. 225
15. पुस्तक वही, पृ. 232
16. प्रो. निर्मला जैन, साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ. (xxiii)
17. वही, पृ. (xxiii

मन्नू भंडारी की कहानियाँ : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

अपराजिता मिश्रा
शोध–छात्रा
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

मन्नू भंडारी की कहानियों की संवेदना के समुचित विश्लेषण के लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी कहानियों की संवेदना से भलि–भाँति परिचित हों। मन्नू भंडारी की सम्पूर्ण कहानियों की संवेदना को इस प्रकार विश्लेषित किया गया है :

1. 'मैं हार गई'

राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं नेताओं की धूमिल होती छवि की सच्चाईयों को लेकर लिखी गई कहानी 'मैं हार गई' मन्नू भंडारी की कहानियों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह राजनीतिपरक कहानी है। राजनीतिक दांवपेंचों में उलझे हुए नेताओं, उनकी भ्रष्टनीति और उनका चारित्रिक पतन का यह कहानी विश्लेषण करती है। देश और समाज को अनेक विसंगतियों का सामना करना पड़ता है। लेखिका गरीब और अमीर दोनों ही वर्गों में अपने नेता का जन्म कराकर देखती हैं ताकि वह उसके आदर्शों पर खरा उतर सके, लेकिन ऐसा किसी भी परिस्थिति में सम्भव नहीं हो पाता। अन्ततः लेखिका इस काम में अपनी हार को स्वतः ही स्वीकार कर लेती हैं।

2. 'श्मशान'

मन्नू भंडारी की कहानी 'श्मशान' में श्मशान का अपनी स्थिति और मनुष्य की स्थिति में एक खाई दिखाई देती है। वह मनुष्य के जीवन को धन्य और अपने जीवन को तुच्छ समझता है, उसे लगता है कि वह इन्सान से जितना प्यार करता है, आखिर क्यों वही इन्सान उससे इतना नफरत करता है। पहाड़ी से बातचीत के दरम्यान वह अपने भावों को उड़ेलता है किन्तु पहाड़ी मनुष्य के भाव से पूर्ण परिचित है, उसके व्यंग्यपूर्ण हंसी को देखकर वह कहता है, ''क्या तुम्हारी कभी यह इच्छा नहीं होती कि तुम्हारे पास भी इंसान की तरह प्रेम–भरा दिल होता, जिसमें अपने प्रिय के लिए मर मिटने की तमन्ना मचलती रहती है। कभी–कभी दूर से हवाएँ आती है और लैला–मजनूँ और शीरी–फ़रहाद की प्रेम कहानियां मुझे सुना जाती हैं तो सच मानना, मैं तड़पकर रह जाता हूँ कि काश ! मैं भी मजनूँ होता और लैला के वियोग में अपने को कुर्बान कर देता। प्रिय की प्रतीक्षा में, राह में पलकों के पॉवड़े बिछाकर बैठा रहता। सावन की उठी घटाएँ मेरे मन हूक उठती और बसंत की सुरमई साँझे मेरे मन में तड़प बन कर रह जातीं। प्रिय का जीवन ही मेरा जीवन होता और उसकी मौत मेरी मौत। पर क्या करूँ, ईश्वर ने तो मुझे श्मशान बनाया है, जिसके हृदय में मुहब्बत नहीं, प्रेम नहीं, स्निग्धता नहीं, सरसता नहीं, केवल धू–धू करती आग की लपटे हैं।''[1]

ईश्वर प्रदत्त समस्त संसाधन, प्राणी जगत पशु पक्षी सभी कहीं न कहीं अपने यथावत रूप में आज भी वैसे ही बनी हुई हैं, बदला है तो सिर्फ मनुष्य उसकी लालसाएँ और उसका प्रेम भाव जो समय के परिवर्तन के साथ ही अपना भी स्वरूप परिवर्तित कर लेता है। श्मशान को मानव बनकर किसी के चाहत में मर मिटने की कामना को तब आघात लगता है जब एक नव युवक द्वारा मृत पत्नी का वियोग असहय जान पड़ता है। श्मशान को उसे देखकर हमेशा यही प्रतीत होता है कि अब उसकी चाहत में मर मिटेगा वह उसके लिए संतप्त हो जाता है। वह पहाड़ी से अपने वेदना के स्वरों में कहता है, ''मेरा अन्तःकरण रह–रह कर कह रहा है कि अवश्य ही उसने आत्महत्या कर ली होगी। वह शायद नदी में डूब गया होगा, या किसी ऐसे ही उपाय से उसने अपना अन्त कर लिया होगा कि मैं उसकी लाश को

भी नहीं पा सका। मेरी कितनी तमन्ना थी कि मैं उसे उसकी प्रिया के पास पहुंच देता।''[2] जब पहाड़ी श्मशान से यह प्रश्न करती है, ''तुम्हें विश्वास है कि वह मर गया होगा।''[3] तो वह रोष पूर्ण कहता है ''तुम तो बिल्कुल ही पत्थर हो। जिसके ह्रदय को प्रेम की पीर ने बेध दिया हो, वह कभी जीवित नहीं रह सकता।''[4] किन्तु कुछ समय व्यतीत होने पर श्मशान को इस यथार्थ का एहसास होता है, जब वही युवक तीन वर्षों के पश्चात् अपनी दूसरी पत्नी की मृत्यु पर फूट–फूट कर रोते हुए कहता है, ''मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि तुम मुझे इस प्रकार छोड़कर चली जाओगी। यदि मुझे इसी तरह मझधार में छोड़कर जाना था, तो मेरा साथ ही क्यों दिया ? अब मैं तुम्हारे बिना कैसे जीवित रहूंगा, तुमने अपनी मधुर मुस्कानों से एक दिन में ही मेरे मन से सुकेशी की व्यथा पोंछ दी थी। मैं मन–प्राण से तुम्हारा हो गया। तुम ही तो मेरा प्राण थीं अब यह निष्प्राण देह कैसे जीवित रहेगी ? कितने दिन जीवित रहेगी ? मुझे अपने पास बुलालो, अब मैं इस संसार में नहीं रह सकूँगा। सुकेशी तो मेरी अनुगामिनी थी इसीलिए शायद मुझे उसका अभाव नहीं खटका, पर तुम तो मेरी सहगामिनी थीं, हम तो दो शरीर एक प्राण थे। जब प्राण ही चले गए तो शरीर का क्या प्रयोजन।''[5]

3. 'अभिनेता'

यह संसार एक रंगमंच है। इस पर रहने वाला हर प्राणी अपने अच्छे और बुरे भाव के साथ इस पर अपनी विभिन्न प्रस्तुतियाँ दे रहा है। कहानी में रंजना जो बहुत भोली और छल–प्रपंच से दूर रहने वाली एक सफल अभिनेत्री है, किन्तु उसके जीवन में आया एक धूर्त व्यक्ति सिर्फ जीवन को ही नहीं प्रभावित करता बल्कि आर्थिक आधार पर भी उसका शोषण करता है। हमारा समाज भ्रष्ट लोगों से भरा पड़ा है। जिनकी बातों में आदर्श और व्यावहारिक स्तर पर भिन्न स्थिति दिखाई देती हैं। दिलीप एक ऐसा ही पुरुष है जो किसी मंच का कलाकार नहीं बल्कि यथार्थ में अपने झूठ, मक्कारी और स्वार्थों से परिपूर्ण किसी कलाकार की भूमिका अदाकर जाता है। दिलीप पुरुषवादी मानसिकता और स्वार्थ के धरातल पर रंजना से अपने सम्बन्धों की नींव डालता है वह रंजना से कहता है, ''जानती हो, मैं लड़कियों की नस–नस पहचानता हूँ। तुम्हे देखते ही तुम्हें पाने की लालसा मन में जाग उठी और इसीलिए मैं मुड़कर बैठ गया। मैं जानता था कि ज्यादा रुचि दिखाई नहीं कि तुम कतराकर चल दोगी। लड़की उसी की ओर खिंचती है, जो उसकी उपेक्षा करे। क्यों, ठीक हैं न।''[6]

रंजना बोली ''बड़े घाघ हो तुम !''[7] ''घाघ न होता, तो तुम यों मेरी बगल में न बैठी होती !''[8] इसके बाद वह कुछ याद करके एकाएक बोल पड़ा ''अरे हाँ देखों मैं कल देहरादून जा रहा हूँ, बिजिनेस के सिलसिले में''[9]

आज के समय में प्रेम की आधारशिला का स्तम्भ महज स्वार्थ और धन सम्पदा पर टिक कर रहा गया है। रंजना जो दिलीप से सच्चा प्रेम करती है उसे परेशान हुए देखकर जब उससे जानना चाहती है, तो वह कहता है ''रंजना, मुझे बाहर जाना है एक जरूरी काम से। बाहर कुछ जगहों में मेरा रुपया अटका हुआ है, पता नहीं क्यों अभी तक आया ही नहीं। बिना रुपये के मैं जा नहीं सकता और बिना गए बड़ा नुकसान हो जायेगा।''[10]

''मैं नहीं जानती थी दिलीप कि तुम मुझे इतना पराया समझते हो। यदि तुम मुझे अपना समझते, तो इतनी–सी बात के लिए यों परेशान होते ?'' और उसकी आँख छलछला आई। उसने दराज में से चेक–बुक निकाली और दस्तखत करके एक खाली चेक दिलीप की ओर बढ़ा दिया ''भर लेना, जितना भी तुम्हे चाहिए।''[11] दिलीप बड़े ही मासूमियत और चालाकी भरे लहजे में कहता है, ''तुम्हीं अपने हाथ से भर दो। बारह हजार ही तो चाहिए मुझे इस समय।''[12]

4. 'जीती बाजी की हार'

जिन्दगी और समय की करवट ने मनुष्य के जीवन में नये हालात पैदा किये हैं। इस नये दौर में स्त्रियां पुरुषों से मुकाबला करते हुए आगे बढ़ रही हैं, अपने स्वतंत्र फैसले और जिन्दगी को नए दृष्टिकोण में रखकर देख रही हैं। मन्नू भंडारी की कहानी 'जीती बाजी की हार' में तीन लड़कियों की कहानियों को चित्रित किया गया है। एक ही कॉलेज की तीन छात्राएं आशा, नलिनी एवं मुरला जो आधुनिकता के परे रहकर सिर्फ अपनी पढ़ाई लिखाई पर ध्यान केन्द्रित की रहती हैं। इन्हें साहित्य में गहरी रुचि है।

समाज में रहने वाले हर प्राणी को सामाजिक नियमों से होकर गुजरना पड़ता है। स्त्री–पुरुष की सोच चाहे कितनी भी बदल जाये लेकिन एक दूसरे से जुड़े बिना और परिवार के बगैर नितान्त अकेले हैं। नलिनी भी आधुनिक समाज में पली–बढ़ी लड़की है, लेकिन वह परिवार के साथ ही अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त कर पाती है वह मुरला और आशा के आने पर सारी बातों के मध्य अपने परिवार और अपनी बच्ची की नादानी और पति की प्रशंसा में न जाने किन–किन बातों को कह डाला किन्तु उन दोनों को नलिनी का यह बदला हुआ रूप बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगा। आशा तो उसकी इस बात से कुढ़कर कह उठती है, ''मेरा घर, मेरा पति, मेरी बच्ची ! मानों इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं दुनियां में। उस पांच महीने के मांस के लोथड़े में उसे जाने कहा की समझ और होशियारी दिखाई दे रही थी। बुरी तरह 'बोर' कर दिया।''[13]

पुरातन समय में जहां वैवाहिक बन्धन में बंधे बिना स्त्री का जीवन धन्य नहीं माना जाता था और स्त्रियों की सोच में पुरुषों की सोच समाहित रहती थीं, वहीं आज समय ने सबकुछ बदल दिया है। स्त्रियां पुरुषों को टक्कर ही नहीं दे रही बल्कि बंधन में बंधना नागवार गुजरने लगा है। मुरला एक ऐसी ही स्त्री है, जो विवाह को आत्मसम्मान के हरण के रूप में देखती है, जब आशा पूछती है, ''अच्छा अब यह बता कि तू शादी कब कर रही है।''[14] तब वह तुनक कर जवाब देती है, ''वह सब तुम लोगों को ही मुबारक हो। शादी करके मैं अपने व्यक्तित्व को नहीं बेच सकती।''[15]

दाम्पत्य जीवन के बाद नारी का जीवन तब सफल माना जाता है, जब वह माँ बनती है, आशा मुरला से यह दावा करती हुई कहती है, ''तू लाख बातें बघार, यह मैं शर्त बदकर कह सकती हूँ कि शादी तुझे करनी ही पड़ेगी और तू करेगी भी। अभी जरा बहुत तारीफ हो गई है न। उसी जोश में फूली फिर रही है। यह उबाल ठंडा होते ही शादी के लिए जान निकलने लगेगी, समझी !''[16] मुरला इस शर्त की अवहेलना करती हुई कहती है, ''क्यों कयामत आई है तेरी। जानती है, किससे शर्त लगा रही है ? यह मुरला है मुरला !''[17]

आशा मुरला की इन बातों से प्रभावित हुए बगैर पूर्णतः विश्वास भरे लहजे में कहती है, मुरला हो चाहे कोई, इतना जानती हूं कि जिससे शर्त लगा रही हूँ, वह सब कुछ होकर भी नारी है। और नारी को एक साथी चाहिए, एक सहारा चाहिए, परिवार चाहिए और चाहिए बच्चे। उच्च–से उच्च शिक्षा भी उसकी इस भावना को नहीं कुचल सकती।''[18]

मुरला, आशा की इन बातों को सुनकर बौखलाए हुए स्वर में बोल उठी ''क्या दकियानूसी लोगों जैसे बातें करती है। सहारा उसे चाहिए जो अपने को अबला समझे! मैं सबला हूँ, मुझे किसी का सहारा नहीं चाहिए। बच्चों को तो मैं अपनी उन्नति का बाधक समझती हूँ, अच्छा छोड़ यह बात–जीत गई तो क्या देगी ?''[19]

आशा मुरला के व्यवहार से परीचित है। अतः वह कहती है ''तू जीत नहीं सकेगी मुरला ! और जीत गई तो जो मांगेगी सो दूंगी। तू कुछ भी माँग लेना।''[20]

हमारे समाज में हर तरह के लोग हैं कुछ का जीवन यूँ ही बिना किसी नियम में उलझे हुए कट जाता है, लेकिन कुछ लोग अपने वायदों और कायदों के लिए कुछ भी कर गुजरते हैं। मुरला भी एक ऐसी स्त्री है, जो अपने उसूलों से अडिग नहीं हो पाती है। उसे विवाह और बच्चे दोनों ही बोझ लगते थे। आज वही आशा की छोटी बच्ची से गहरा नाता जोड़ चुकी है, किन्तु अपने जीवन में कोई परिवर्तन नहीं ला पाती है, तो आशा उससे कहे हुए अपने शब्दों की पुनरावृत्ति करती हुई कहती है, ''मुरला शर्त की बात तुझे शायद याद होगी। मैं हार गई, अब तू जो चाहे मांगले, मैं दूँगी। सच पूछे तो अपनी इस हार में भी मुझे प्रसन्नता है।''[21] ''मुरला आशा से मुस्कुराते हुए कहती है देख हार गई ना।'' पर उसके स्वर में विजय का उल्लास न था। ''अच्छा जा, छोड़ मुझे कुछ नहीं चाहिए।''[22]

5. 'गीत का चुम्बन'

संसार में सृष्टि के रचयिता ने जो सबसे सुन्दर रचना की है, वह एक नारी के रूप में की है। यह विधाता की वह रचना है, जो कोमल हृदय, कोमल वपु, सहजता, सरलता, करुणा, सहनशीलता, लज्जा, सादगी की प्रतिमूर्ति है। ईश्वर द्वारा सृष्टि में भेजा गया वह नायाब तोहफा है, जो अपने

योगदान द्वारा परिवार, राष्ट्र, समाज की धुरी का केन्द्र बनी रहती है। मन्नू भंडारी की कहानी 'गीत का चुम्बन' में एक ऐसी स्त्री का वर्णन है, जो पारम्परिक संस्कारों से परिपूर्ण है। कनिका का चित्रण संस्कारी एवं लज्जा से युक्त स्त्री के रूप में मिलता है। जब निखिल उससे कहता है, ''आप रेडियों पर क्यों नहीं गाती ?''[23] वह इन बातों को सुनकर अत्यन्त आश्चर्य के साथ पूछती है, ''हाय राम ! रेडियो पर और मैं।''[24] निखिल उसे समझाते हुए कहता है, ''क्यों, अच्छा खासा गाती हैं आप। थोड़ी प्रैक्टिस करें तो और अच्छा गा सकती हैं। लगता है अपने गाने के मामले में आप सीरियस नहीं हैं।''[25]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः

1. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 27
2. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 29
3. वही
4. वही
5. वही, पृ0 29–30
6. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 35
7. वही
8. वही
9. वही
10. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 36
11. वही
12. वही
13. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 40
14. वही, पृ0 41
15. वही
16. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 41
17. वही
18. वही
19. वही, पृ0 41–42
20. वही, पृ0 42
21. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 42
22. वही
23. वही, पृ0 44
24. वही
25. वही

भरों का इतिहासः अवध के विशेष संदर्भ में

डॉ. मोहम्मद आदिल
असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग
भवंस मेहता महाविद्यालय, भरवारी, कौशांबी

अवध के विभिन्न क्षेत्रों में राजपूतों के आगमन से पूर्व गंगा, सई, गोमती और घाघरा नदियों तथा उसकी सहायक नदियों के तटीय दुर्गम क्षेत्रों में भर जाति के लोग निवास करते थे। उन्होंने अपने दुर्गों के निर्माण में पकी ईंटों का प्रयोग किया था। उनके खण्डहर विभिन्न टीलों पर आज भी देखे जा सकते हैं। इलाहाबाद, कड़ा–मानिकपुर, कौशांबी, फतेहपुर, उन्नाव, प्रतापगढ़, सुल्तानपुर, रायबरेली, बाराबंकी, लखनऊ गोरखपुर, गोण्डा आदि जिलों के विभिन्न क्षेत्रों में भरों का बोलबाला उस समय तक बना रहा जब तक कि वैस राजपूतों को मुस्लिम शासकों ने मिलाकर उनके क्षेत्रों को विजित नहीं कर लिया। अवध क्षेत्र में अनेक ऐसे गाँव आज भी हैं जिसे बसाने का श्रेय भरों को दिया जाता है। ऐसे ही गाजीपुर का चिरैया कोट का किला उन्हीं का निर्माण बताया जाता है।[1] भर शासकों की वीरता के किस्से अवध क्षेत्र के स्थानीय रचनओं में देखी जा सकती है। ऊदल जैसे वीर शासक के समय कोई भी उनकी सीमा में घुसने का साहस न कर सका। दिल्ली सुल्तानों ने भी बिना राजपूतों को लिए इस क्षेत्र में घुसने का साहस नहीं किया।

भर कौन थे? इसको लेकर अनेक मत हैं। सी. ईलियट के अनुसार ''अवध में सूर्यवंशी छत्रियों के शासन के अवसान के पश्चात् देश का पूर्वी भाग चेरों द्वारा, मध्य भाग भरों द्वारा और पश्चिमी भाग राजपासियों द्वारा शासित था। ये आदिवासियों की जातियाँ थीं, जिन्हें आर्यों ने पहाड़ों में खदेड़ दिया था। ईसा की पहली सदी के शुरुआत में वह पहाड़ों से निकले। उन्होंने आर्यों की संस्कृति स्वीकार कर सूर्यवंशियों को गुजरात तक ढकेल दिया। इस प्रकार वे हिमालय और विंध्य पहाड़ी के मिर्जापुर की दक्षिणी साख तक फैल गए।''[2] उक्त कथन किसी ठोस प्रमाणों के अभाव में सत्य प्रतीत नहीं होता। डॉ० ओबर्ट ने भरों को टॉलमी के समकालीन बर्राही, भारतीय और बर्बर नामी पहाड़ी जातियों से संबंधित माना है।[3] ऐसे ही एक मान्यता के अनुसार सुल्तानपुर के निवासियों को भर कहा जाता है। इनका रंग काला और कद मध्यम और अधार्मिक विचारों वाले तथा गंदी आदतों वाले बताये जाते है।[4] विलियम कूक ने भरों को राजभर, भरत और भरपटवा कहा है। कूक महोदय ने भरों के बारे में जानकारी जुटानी शुरु की तो उन्हें ज्ञात हुआ कि 'भर' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'भृ' से हुई है। जिसका अर्थ पालन करना होता है। कूक ने भी अपने पूर्ववर्ती अंग्रेज लेखकों के कथन के आधार पर भरों को उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में पायी जाने वाली द्रविड़ जाति का वंशज माना है। डॉ. काशी प्रसाद जायसावाल के अनुसार 'भर' शब्द भार–शिव का अपभ्रंश है।[5] सम्राट प्रवरसेन ने अपने पुत्र गौतमीपुत्र का विवाह भार–शिव के महाराज भवनाग की कन्या के साथ किया था। वाकटक राजवंश के इतिहास में यह घटना इतने अधिक महत्व की थी कि यह उस वंश के इतिहास में सम्मिलित कर ली गई थी और वाकाटकों के सभी राजकीय लेखों आदि में इसका बार–बार उल्लेख मिलता है कि इस राजनीतिक विवाह के पूर्व भार–शिवों के राजवंश ने गंगा–तट पर, जिसका अधिकार उन्होंने अपना पराक्रम प्रदर्शित करके प्राप्त किया था, दस अश्वमेघ यज्ञ किए थे और उनका राज्याभिषेक गंगा के पवित्र जल से हुआ था। भार–शिवों ने शिव को अपने साम्राज्य का मुख्य या प्रधान देवता बनाया था। भार–शिवों ने गंगा तट पर जिस स्थान पर दस अश्वमेघ यज्ञ किए थे, डॉ० जायसवाल ने उस स्थान की पहचान काशी का दशाश्वमेघ नामक पवित्र घाट और क्षेत्र जान पड़ता है जो भगवान शिव का लौकिक निवास स्थान माना जाता है।

भार–शिव लोग मूलतः बघेलखण्ड के निवासी थे और वे गंगा के तट पर उसी रास्ते से पहुँचे होंगे, जो दक्षिण का प्राचीन मार्ग कहलाता है। दक्षिण का प्राचीन मार्ग मिरजापुर (संयुक्त प्रांत) में आकर समाप्त होता है। डॉ० जायसवाल स्मृति चिन्ह, स्तंभों, स्थान–नामों और सिक्कों के आधार पर इस

निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भार–शिवों का मूल स्थान कौशांबी और काशी के मध्य में था।[6] भार–शिवों के आरम्भ के बारे में डॉ० जायसवाल आगे लिखते हैं कि प्रवरसेन प्रथम से पूर्व अथवा उसके समय तक भार–शिवों ने दस अश्वमेघ यज्ञ किए थे और स्वयं प्रवरसेन प्रथम ने भी अश्वमेघ यज्ञ किए थे, इस आधार पर भार–शिवों का आस्तित्व कम से कम एक शताब्दी से पहले से चला आता होगा। भार–शिवों ने एक अपने धर्म की स्वतंत्रता और प्रधान राज्य स्थापित करने का प्रयास किया। वाकटकों और गुप्तों ने भी भार–शिवों के इसी परम्परा को आगे बढ़ाया। वाकटक इतिहास–लेखकों ने इन भार–शिवों का इतिहास बहुत सुंदर रूप से सदा के लिये स्थायी कर दिया। आज तक कभी इतने संक्षेप में और इतना अधिक सार–गर्भित इतिहास नहीं लिखा गया था। वह इतिहास एक ताम्रलेख की निम्नलिखित तीन पंक्तियों में है–

''अंशभारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वाहनशिवसुतपरितुष्टसम्त्पादितराजवंशनाम्पराक्रम आधिगत=भागीरथी=अमलजलःमूर्धाभिषिक्तानाम् दशाश्वमेघ=अवभृथस्नानाम् भारशिवानाम्।''

अर्थात् ''उन भार–शिवों (के वंश) का, जिनके राजवंश का आरम्भ इस प्रकार हुआ था कि उन्होंने शिव–लिंग को अपने कंधे पर वहन करके शिव को भली भाँति परितुष्ट किया थाकृवे भार–शिव जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था जिसे उन्होंने अपने पराक्रम से प्राप्त किया थाकृवे भार–शिव जिन्होंने दस अश्वमेघ यज्ञ करके अवभृत स्नान किया था।''[7] कुषाण शासकों के अंत के साथ ही भार–शिवों की श्क्ति का उत्थान हुआ था। जिस समय उनका उत्थान हुआ था, उस समय उन्हें सबसे पहले कुषाण साम्राज्य का ही मुकाबला करना पड़ा था। वाकटकों के लेखों में एक भार–शिव राजा भवनाग का उल्लेख मिलता है। डॉ० जायसवाल ने अनेक प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भार–शिव नागवंशी थे। पुराणों के अनुसार नाग वंश की कई शाखाएँ थीं। उन्हीं में एक विदिशा का नागवंश था जिसे वायु पुराण वृष अर्थात् शिव का साँड या नंदी कहा गया है।[8] शुंग राजवंश के अवसान हुए कई राजाओं के नामों के अंत में नंदी शब्द मिलता है। डॉ० जायसवाल के अनुसार भार–शिव उपाधि पीछे से ग्रहण की गयी थी, जो कि वायुपुराण के वृष और नंदी शब्द से संबद्ध है।

किवदंतियों के अनुसार उत्तर प्रदेश के विस्तृत भू–भाग पर भरों का शासन था। वे लोग डल और बल को अपना पूर्वज व नेता मानते थे। एक जन–श्रुति के अनुसार डल नामक भर सरदार ने ही डलमऊ नामक शहर की स्थापना की थी।[9] पंद्रहवीं शताब्दी में डलमऊ के समीप रहने वाले काकोर नामक किसी भर सरदार ने हाजी सैयद की पुत्री से विवाह करने का साहस किया था। हाजी ने इसकी शिकायत जौनपुर के सुल्तान इब्राहीम शाह शर्की से कर दी। डलमऊ के इन्हीं भर सरदारों के दो भाई कपूर और भावन सुदामनपुर में रहते थे। इब्राहीम शाह और हुसैनयति ने सैयद रुक्नुद्दीन और सैयद जहाँगीर तथा मलिक मकदूम शाह आदि के नेतृत्व में एक विशाल सेना लेकर 803 हिजरी में होली के अवसर पर जब सभी भर सरदार मदिरा के नशे में मस्त थे तभी अचानक उन पर आक्रमण कर दिया। अचानक हुए आक्रमण में भर ताब न ला सके और बुरी तरह पराजित हुए। सुदामन पुर में लड़े गए इस युद्ध के बाद स्थानीय भरों के वंश का नाश हो गया। उस युद्ध के स्मरण में भरोतिया अहीरों की स्त्रियाँ आज भी नाक में नथुनी और हाथ में काँच की चूड़ियाँ नहीं पहनती हैं। डलमऊ में दुर्गा जी की मूर्ति के सामने बनी पत्थर की दो मानव मूर्तियाँ भर सरदार डल और मल की मूर्तियाँ बताई जाती हैं।[10] सावन के महीने में अहीर लोग उन पर दूध चढ़ाते हैं। सुदामनपुर के अहीर आज भी फाल्गुन की पूर्णिमा को होली नहीं जलाते हैं बल्कि उसके 15 दिन बाद होलिकोत्सव मनाते हैं। यही कारण है कि आज बहुधा लोग बैसवाड़ा के अहीरों को भरों के वंशज मानते हैं, किंतु अहीरों को भर मानना युक्ति संगत नहीं है। संभवतः भर विनाश के बाद उनकी कुछ विधवा स्त्रियाँ जो निराश्रित थीं, वे अहीरों के द्वारा अपना ली गयीं हो जिनसे अहीरों में भरोठिया (भरउठिया= भरों से उठी हुई) शाखा प्रादुर्भाव हुआ हो। भरोठियों के यहाँ आज भी भर सरदारों की पावन स्मृतियाँ आज भी दिखाई देतीं हैं।

उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में आज भी भर नाम की एक जाति आदिवासियों की भांति पायी जाती है। जिनकी दशा देख कर इलियट, बेनेट, ओल्डमैन आदि विद्वानों ने भरों को द्रविड़ आदिवासी पहाड़ी जातियाँ स्वीकार करते हैं। बैसवाड़ा और अवध में भरों के पराभव के बाद भरों की स्त्रियों का एक वर्ग अहीर व अन्य जातियों में घुल–मिल गया हो तो दूसरी ओर स्वाभिमानी दल गिरि–कंदराओं में

लुकता–छिपता रहा हो और सभ्य वातावरण से दूर रहने के कारण आज आदि–वासियों के रूप में हमारे बीच उपस्थित हैं। इनमें शिव और शक्ति की पूजा– उपासना आज भी पाई जाती है। साथ ही उनमें शराब आम है। भरों ने अपने पीछे जो टीले छोड़े हैं और उन पर विशाल शिवमूर्ति अथवा शिव मंदिर उनकी शिवोपासना एवं भर शिव होने के प्रमाण हैं। ऐसे ही पन्हन के अचलेश्वर, पनई के भंवरेश्वर, गहिरी (रायबरेली) के गहिरेश्वर, दरियापुर के दरियेश्वर इत्यादि है।

रायबरेली में मोहनगंज के पास मुस्लिमों के कई गाँव आबाद हैं जो अपने को भरसइयां मुसलमान बताते हैं। इनके यहाँ विवाह भी आपस में ही होते हैं। जमींदारी उन्मूलन के पूर्व तक ये सभी बड़े जमींदार थे। भरसइयां शब्द की उत्पत्ति भी भारशिव शब्द से ही प्रतीत होती है।

गोंस महोदय का कहना है कि शर्यात वंशज आगे–चलकर सोइरी कहे गये और भृगु के वंशज भर कहलायें।[11] जौनपुर क्षेत्र में सोइरी समुदाय को भरों से पुराना समुदाय माना जाता है। जौनपुर क्षेत्र में भी भरों का आधिपत्य विशेष रूप से रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि भरों ने हिंदुओं के विभिन्न समुदायों में रीति रिवाजों को ग्रहण करके उन्हीं में अपने को आत्मसात कर लिया।[12] भदोही जो आज कालीन निर्माण के लिए विश्व प्रसिद्ध है वहाँ के एक मकान की नींव खोदते समय तीर के फलक मिले हैं। उन फलकों को भरों के साथ जोड़कर देखा जा रहा है क्योंकि भर एक लड़ाकू जाति थी, जो तीर और कमान का प्रयोग बहुधा करती थी।

असनी नामक कस्बा जो फतेहपुर में स्थित है। असनी को बसाने का श्रेय अश्वनी कुमार को जाता है जो सूरज के पुत्र थे।[13] गंगा के किनारे स्थित असनी दुर्ग का स्वामी 'चंदल भोर' था। इलियट ने चंदल भोर को चंदेल राजपूत माना है और वेनेट ने उन्हें भर माना है। वह चंदेलों की उत्पत्ति भरों से मानते हैं। उनका मानना है कि चंदेल भोर का शाब्दिक अर्थ 'आउट कास्ट भर' है। भर शासक शक्तिशाली होने पर अपनी जाति परिवर्तित करके कायस्थ हो गये। उसके वंशज क्षत्रिय माने जाने लगे और वे चंदेल राजपूत कहलायें। कन्नौज के प्रतिहार शासक महिपाल का यहाँ से एक अभिलेख भी मिला है।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के समय कड़ा में भर राजा मानदेव का शासन था। मानदेव ने प्रतापगढ़ जिले में स्थित विहार को अपनी राजधानी बनाया था। उसने अपनी राजधानी विहार में एक सुंदर संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना कराई थी। प्रतापगढ़ सदर से पूर्व की ओर जाने पर भरों के दुर्ग खण्डहर आज भी देखे जा सकते हैं। ऐसा माना जाता है कि इस दुर्ग का निर्माण भर राजा मानदेव के द्वारा कराया गया था। प्रतापगढ़ के अलीहा परगने में भरों से संबंधित अनेक अवशेष प्राप्त होते हैं। उनका एक कोट रंकी में आज भी खण्डित अवस्था में मौजूद है। मानदेव के बारे में बहुत अधिक जानकारी नहीं मिलती है। ऐसा माना जाता है कि तहसील पट्टी को बसाने वाला दौधदेव राजा मानदेव का सेनानायक था। 1188 ई. में पृथ्वी राज तृतीय ने अपने एक सरदार बल सिंह को मानदेव के विरुद्ध भेजा था। मानदेव युद्ध में सरदार बल सिंह से पराजित हुआ और मारा गया। मानदेव का सेनापति दौधदेव को मोहम्मद गोरी से दौधपुर में अंतिम रूप से पराजित होकर धर्म परिवर्तित कर दौधखान बन गया। इसके बदले मोहम्मद गोरी ने उसे बारह गाँव की जमींदारी प्रदान की थी। ऐसे ही मानधाता ब्लाक में भी भर आबाद थे। शुंस के सोमवंशी राजपूतों ने मानधाता ब्लाक का क्षेत्र भरों से छीन लिया। इसके कुछ समय बाद मानदेव के नेतृत्व में भरों ने पुनः इस क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया। शुंस क्षेत्र के राजपूत पहले–पहल भरों के यहाँ नौकरी में आए। धीरे–धीरे उन्होंने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर भरों को इस क्षेत्र से निकाल भगाया। बड़ी संख्या में भर मानधाता के आस–पास से प्लायन कर तेरहवीं सदी के पूर्वार्ध में आधुनिक उन्नाव क्षेत्र में बस गये। उन्नाव में उन्होंने गहरवाल वंश के ठाकुरों को पराजित कर "भक्कर" नामक स्थान को अपना मुख्यालय बनाया। ऐसा प्रतीत होता है गहरवाल राजपूत रामराधों ने आधुनिक कुण्डा क्षेत्र में भरों से बगावत कर दिया। इसमें मानिकपुर के बिसेन राजपूतों से मिलकर रामराधों ने भरों को पराजित कर दिया। प्रतापगढ़ के उत्तर–पश्चिम में विश्वनाथगंज के निकट वैशपुर (नामपुरवा) से भरों के आराध्य डीपाडीह तथा महादेव की नवीं शताब्दी की पाषाण प्रतिमाएँ मिली हैं। जो भरों के इस क्षेत्र में होने का संकेत देती हैं।

कनिंघम ने चंदेलों की उत्पत्ति भरों से बताई है। भरों की कुल देवी मनिया देवी थीं। मनिया देवी का मंदिर हमीरपुर जिले के भरेल गाँव में स्थित है। मनिया देवी को संभवतः गोड़, भर तथा चंदेल

तीनों इन्हें अपनी कुल देवी मानते हैं। भर राजा मनियादेव ने मनियागढ़ में एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण कराया। मनियागढ़ को बेस बनाकर भरों ने मध्य प्रदेश में केन नदी से लगे हुए क्षेत्रों पर शासन किया। मिन्हाज–उस–सिराज ने अपने ग्रंथ तबकात–ए–नासिरी में दलकी और मलकी नामक दो शासकों का उल्लेख किया है। मिन्हाज के अनुसार 1246–47 ई० में सुल्तान नासिरुद्दीन दोआब के मध्य से होता हुआ तिला सिंदह के किले को फतह किया और उसी वर्ष उसने दलकी और मलकी नामक शासकों के गांवों को नष्ट–भ्रष्ट कर उनके परिवार सहित उनके अन्य सेवकों को बंदी बना लिया। मोहम्मद कासिम हिंदू शाह फरिश्ता ने भी अपने ग्रंथ तारीख–ए–फरिश्ता में नासिरुद्दीन महमूद के शासनकाल में राजा दमकी (दलकी) और राजा मलकी के विरुद्ध सैनिक अभियान का उल्लेख इस प्रकार करता है– ''2 शाबान, 645 हिजरी (1247 ई०) को नासिरुद्दीन महमूद दोआबा का दौरा करता है और बड़ी मेहनत व हिम्मत से नबरथ (कन्नौज) के दुर्ग को विजित कर लिया। इसी वर्ष इस्लामी तारीख के ग्यारहवें महीने में नासिरुद्दीन कड़ा की ओर ध्यान आकर्षित करता है। कड़ा विजय के लिए उसने खान–ए–आजम (बलबन) को सेना के साथ रवाना किया। बलबन ने दलकी और मलकी के गावों को खूब जी भर कर लूटा। दलकी और मलकी से बलबन की कई झड़पें हुई लेकिन अंत में बलबन विजयी रहा। शत्रु के परिवार के साथ उनके सेवकों को बड़ी संख्या में बंदी बनाकर नासिरुद्दीन की सेवा में उपस्थित हुआ। दलकी और मलकी का शासन जमुना नदी के किनारे स्थित क्षेत्र पर था। उन्होंने नासिरुद्दीन के पूर्व के सुल्तानों के समय उनकी सीमा के कई थानों को तबाह कर कलिंजर और कड़े से लेकर मालवा तक के तमाम क्षेत्रों को अपने अधिकार में कर लिया था।''[14] मिन्हाज और फरिश्ता के ग्रंथों से यह स्पष्ट नहीं होता कि दलकी और मलकी किस वंश से थे? डब्ल्यू० सी० बैनेट व मेजर कनिंघम ने यह स्वीकार किया है कि कड़ा और कलिंजर के शासक थे। बैनेट ने दलकी और मलकी को भर शासकों की वंश परम्परा के स्वीकार करते है। कड़ा और कलिंजर के निर्माणकर्ता भर शासक केदार बताये जाते हैं। दलकी और मलकी के पूर्वज अजयगढ़ से संबंधित थे।

सुल्तानपुर में भी भर शासकों का उल्लेख मिलता है। अलाउद्दीन खिल्जी के शासनकाल में सैयद मोहम्मद और सैयद अलाउद्दीन नामक दो भाई कुशभावनपुर (सुल्तानपुर) में घोड़े के व्यापार के लिए गए थे। वहाँ के भर राजा नंदकुँवर से उनका विवाद हो गया। नंदकुँवर ने उनकी हत्या करवा दी। इस प्रकरण की सूचना अलाउद्दीन को हुई तो वह क्रोधित होकर कुशभावनपुर पर चढ़ाई कर दिया। अलाउद्दीन ने नंद कुँवर के विरुद्ध एक षडयंत्र रचा। वह दोस्ती के बहाने सैकड़ों पालकियाँ तैयार करवाई और उन पालकियों में दासियाँ भेंट करने के नाम पर अलाउद्दीन ने पलकियों के अंदर छद्मवेश में अपने सैनिक बैठाकर गोमती नदी पार करके नंदकुँवर के खेमे में भेज दिया। वहाँ पर पहुँचकर अलाउद्दीन के सैनिकों ने भरों को पराजित कर दिया। इस प्रकार कुशभावनपुर पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। कनिंघम के अनुसार कुशभावनपुर का नाम श्री राम जी के छोटे पुत्र कुश के नाम पर पड़ा था। कुशभावनपुर या कुश स्थलीय में भरतीपुर नामक स्थान भर वंश की राजधानी थी। सुल्तानपुर के इसौली परगने की स्थापना भर राजा इसौल ने की थी। नंदकुँवर के बाद सुल्तानपुर के नए महाराजा इसौल हुए। उनका शासनकाल 1302 ई० से 1327 ई० तक माना जाता है। अलाउद्दीन ने महाराजा इसौल के विरुद्ध मलिक काफूर को भेजा। मलिक काफूर ने वैस जाति के क्षत्रियों के सहयोग से पराजित कर उनके दुर्ग पर अधिकार कर लिया। वैस क्षत्रियों को उनकी सेवा के बदले अलाउद्दीन ने उन्हें ''भाले सुल्तान'' की उपाधि प्रदान किया। महाराजा इसौल के पराजित होने के पश्चात् सुल्तानपुर से भरों का प्लायन आरम्भ हो गया।

रायबरेली में भी भरों का शासन रहा। रायबरेली के भर शासकों में डलदेव का नाम मिलता है। डलदेव के पिता विवेक चंद नगरकोट के प्रताप चंद राही (रायबरेली) में सूबेदार थे। फिरोज शाह तुगलक ने नगरकोट अभियान कर प्रतापचंद राय को पराजित कर नगरकोट पर अधिकार कर लिया तो विवेक चंद ने अपनी स्थिति मजबूत कर अपने पुत्र डलदेव का राज्याभिषेक गंगा नदी के तट पर बाल्हेमऊ में किया। बाद में बाल्हेमऊ का नाम डलमऊ कर दिया गया। डलदेव ने डलमऊ में एक मजबूत दुर्ग का निर्माण कराया। यह दुर्ग लगभग आठ एकड़ में था। इसी दुर्ग के प्रांगण में मकदूम बदरुद्दीन का मकबरा, हौसैन शाह का मकबरा तथा फिरोजशाह तुगलक के शासनकाल में बनी मस्जिद स्थित है। यहाँ से ब्लैक स्लिप्ड व रेड वेयर के टुकड़े मिले हैं।

सुल्तानपुर का एक अन्य नाम भरतीपुर बताया जाता है। तुर्कों के शासनकाल में भरतीपुर का नाम सुल्तानपुर हो गया। यहाँ का एक परगना अल्देमऊ है। अल्देमऊ की स्थापना संभवतः भर जाति के दो भाईयों ने किया है। ये दोनों भाई महाराजा सोझवल की पश्चिमी सीमा के सरदार थे। जौनपुर के शर्की सुल्तान से महाराजा के पराजित होने के पश्चात् अल्देव व मल्देव अपनी शक्ति सुदृड़ करके स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। शर्की सुल्तान इब्राहीम शाह की मृत्यु के पश्चात् दोनों भाईयों ने मिलकर अपने राज्य का विस्तार प्रारम्भ कर दिया। उनका राज्य 349 मील तक में फैला हुआ था। जिसमें 562 ग्राम शामिल थे। दोनों बंधुओं ने गोमती नदी के किनारे पर एक किला सहित एक नगर बसाया और उसका नाम अल्देमऊ रखा।

आइन–ए–अकबरी में अबुल फज्ल ने लिखा है कि '' अकबर के शासनकाल में यहाँ का क्षेत्र 46,888 बीधा 12 बिस्वा था। और यहाँ से 30,99,990 दाम राजस्व की प्राप्ति होती थी।'' दोनों बंधुओं ने अपने शासन प्रबंध की सुविधा को ध्यान में रखते हुए अपने राज्य को 10 तप्पों में विभक्त किया था। जो इस प्रकार हैं–

1.सरवान 2.रोहलावान 3.बेवन्ना 4.हरई 5.मकरहा 6.हवीली 7.जटौली 8.करौंदा 9.कटधर 10.इमलक

इन तप्पों में योग्य प्रतिनिधियों के माध्यम से दोनों बन्धु अपने राज्य में शांति स्थापित करने का प्रयास किया। इब्राहीम शाह शर्की का उत्तराधिकारी महमूद शाह शर्की ने अपने विशेष सेनापति सैयद शुजा किरमानी को भर बंधुओं के विरुद्ध अल्देमऊ भेजा। शर्की सेनाओं का भर सेनाओं के साथ गोमती नदी पश्चिमी क्षेत्र में सामना हुआ। इस युद्ध में किरमानी को पराजय का मुँह देखना पड़ा। शर्की सेना की पराजय की सूचना पाते ही महमूद शाह स्वयं एक विशाल सेना लेकर अचानक अल्देमऊ पर चढ़ाई कर भर बंधुओं को पराजित कर दिया। उस समय अवध का शासक गरहा को दोनों बंधुओं के पराजित होने की सूचना मिली तो वह भी एक विशाल सेना के साथ संभतः अल्देमऊ पर चढ़ाई कर दिया। गरहा ने गोमती नदी के तट पर (जहाँ अल्देव और मल्देव का अंतिम संस्कार हुआ था) उसने नेपाल से पत्थर मंगवाकर वहाँ एक सुंदर घाट का निर्माण कराया। उस घाट को दोपाय घाट के नाम से जाना गया।

फैजाबाद जिले में सदर क्षेत्र के मंगलसी नामक परगने में मंगलसेन नामक एक भर राजा का उल्लेख मिलता है। मंगलसी परगनेको बसाने का श्रेय मंगल सेन को जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 1545 ई० से 1645 ई० के मध्य वैस राजपूतों ने वहाँ से भरों को निकाल भगाया। मुगल बादशाह अकबर ने बड़े पैमाने पर राजपूतों को अपने शासन का आधार बनाया था। अकबर और जहाँगीर के शासनकाल में वैस राजपूतों ने भरों के क्षेत्रों अधिकार कर लिया। मुसलमानों के हिंदुस्तान में आगमन के पूर्व न केवल हिंदुस्तान छोटी–छोटी रियासतों में विभक्त था बल्कि यहाँ के गाँवों और कस्बों में तक के राजा–सरदार अलग–अलग होते थे।

अवध क्षेत्र में एक अन्य भर राजा मनियार का भी उल्लेख मिलता है। राजा मनियार अकबर के समकालीन माने जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका कोट अमरोहा में था। उस समय मनियार का क्षेत्र कटहला राज कहलाता था। अकबर ने राजपूत सरदार जगत सिंह व फिदा खान को राजा मनियार के विरुद्ध भेजा। ऐसा माना जाता है कि शाही सेना ने षडयंत्र करके मनियार के सैनिकों को शराब के नशे में धुत कर उन पर आक्रमण कर दिया। शाही सेना के सामने शराब में मस्त मनियार के सैनिक ताब नला सके और पराजित हुए। अकबर ने मनियार के राज्य को राजपूतों के अधीन कर दिया। भर जो अवध क्षेत्र में सदियों से शासन करते आये थे। अकबर के शासनकाल में उन्हें शासक वर्ग से शासित वर्ग में जाना पड़ा। अकबर को जहाँ एक ओर महाराणा प्रताप चुनौती दे रहे थे वहीं राजा मनियार भी जब तक जीवित रहे अकबर की अधीनता नहीं स्वीकार किया। कहा जाता है कि राजा मनियार के दुर्ग को सोमवंशीय राजपूतों ने तहस–नहस कर दिया। महुली क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी में भर सरदार कौकबिल ने अपनी जमींदारी स्थापित कर ली थी।

ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि चौदहवीं शताब्दी में ध्रुवचंद नामक कौशिक क्षत्रिय ने घाघरा नदी के उत्तर शिवपुर नामक स्थान पर भरों से युद्ध किया था। इस युद्ध में भरों ने ध्रुवचंद को कड़ी चुनौती दी थी। मोहम्मद तुगलक जब सुल्तान बना तो उसने अमीरों की जाँच के लिए दीवान–ए–सियासत की स्थापना कर उनकी भूमि व कार्य संबंधी जाँच शुरु कराई। जो भी अमीर अपना

विवरण देने में असमर्थ होता तो वह सुल्तान के कोपभाजन का शिकार हो जाता था। अमीरों ने अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए विद्रोह करना शुरु कर दिया। इसी कड़ी में भर सरदारों ने भी विद्रोह कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि भर सरदारों द्वारा किया गया विद्रोह अपने–अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र शासन स्थापित करने के उद्देश्य से था। मोहम्मद तुगलक ने ऐन–उल–मुल्क को अवध में हुए विद्रोह को शांत करने के लिए भेजा। ऐन–उल–मुल्क ने अवध के सवर्ण क्षत्रियों को लेकर भरों पर धावा बोल दिया। ध्रुवचंद ऐन–उल–मुल्क के विश्वासपात्रों में से था। जिस समय ध्रुवचंद घाघरा नदी के किनारे भरों से युद्ध कर रहा था उसी समय ऐन–उल–मुल्क अपनी सेना के साथ ध्रुवचंद से आमिला और भरों और दोनों सेनाओं के जुड़ जाने से भर अधिक समय तक युद्ध स्थल में टिक न सके और इस प्रकार भरों का संपूर्ण क्षेत्र दिल्ली सल्तनत के प्रभाव में पुनः आ गया। गोरखपुर, बस्ती, देवरिया तथा गाजीपुर जिलों के अनेक क्षेत्रों के नामाकरण का श्रेय राजा मनियार को जाता है।

बहराइच में भी अनेक भर राजाओं का उल्लेख मिलता है। बहराइच जिले में इकौना का क्षेत्र भर राजा खनई के द्वारा बसाया गया था। इकौना परगना के पूर्व में खानपुर महाडा को बहराइच में मिलाकर इस। पूरनमल (1194–1226) की मृत्यु के पश्चात् खनई ने बलरामपुर क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। इसी क्षेत्र में इल्तुतमिश के समय नासिरुद्दीन ने भरों को बुरी तरह पराजित कर दिया था। हिसमपुर का नाम मसूद गाजी के एक साथी हिसामुल हक के नाम पर रखा गया है। मसूद गाजी को पराजित करने के बाद उनके अधीन क्षेत्र का नाम पूरनमल ने पुरैना रख दिया। खनई के पश्चात् हिसमपुर और उसके आस–पास के क्षेत्रों पर भर राजा छत्रसाल ने शासन किया। यहाँ के अन्य भर राजाओं में नागुल का नाम मिलता है।

बहराइच में एक अन्य भर राजा महाराज तिलोक चंद का नाम मिलता है। ऐसा माना जाता कि उन्होंने 918 ई० में बहराइच में अपना साम्राज्य स्थापित किया था। तिलोक चन्द सूर्य देवता के उपासक थे, सूर्य को संस्कृत में अर्क के नाम से जाना जाता है। अर्क जाति भरों से टूटकर बनी है। महाराज तिलोक चंद के सूर्य पर आस्था के कारण कुछ लोग उन्हें सूर्यवंशी कहने लगे। अवध के पूर्वी क्षेत्र में भरों की सबसे प्राचीन बस्ती होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। बहराइच पूर्व में भरराइच था जो भरों के नाम से जुड़ा हुआ है। भरराइच कब बहराइच हो गया उसके बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। अकबर का समकालीन इतिहासकार अबुल फज्ल ने इसे बहराइच लिखा है। इससे यह तो ज्ञात होता है कि अकबर के शासनकाल से पूर्व ही भरराइच का नाम बहराइच हो चुका था। तिलोक चंद को बहराइच का कल्याणकारी शासक माना जाता है। उसने यहाँ लगभग 33 वर्ष शासन किया। राजा सुहलदेव का जन्म 1009 ई० में हुआ था। उनके पिता का नाम बिहारी मल था। बिहारी मल के चार पुत्र (सुहलदेव, रुद्रमल, नागमल, सहरमल) एवं एक पुत्री (अम्बादेवी) थी। बहराइच के शासकों का तिथिक्रम स्पष्ट रूप से मिलता है। इसी क्रम में राजा सुहलदेव 1027 ई० में वे बहराइच के शासक बने। उन्होंने श्रावस्ती को केंद्र बनाकर शासन किया।

मिर्जापुर में भी भर राजाओं का उल्लेख मिलता है। वहाँ के राजा मदन खरवार जाति के बताये जाते है। खरवार भरों की एक उपजाति है। मिर्जापुर में स्थित पंपापुर क्षेत्र को भरों की प्राचीन राजधानी मानी जाती है। पंपापुर का उल्लेख वाल्मीकि रामायण में भी मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में मिर्जापुर में भर शासक कर्ण का उल्लेख मिलता है जिसका शासनकाल 1014 ई० से 1072 ई० तक था। मिर्जापुर से राजपूत बंधु बारीमल व पारिमल ने भरों को पराजित कर इस क्षेत्र से भागने के लिए विवश कर दिया। राजा कर्ण कांतिक नगर के निर्माता बताये जाते हैं। विजयगढ़ दुर्ग का निर्माण संभवतः इन्होंने ही कराया था जिसे भरौटी दुर्ग भी कहा जाता है। राजा कर्ण की मृत्यु के बाद राजा मदन भरों के अगले शासक हुए। राजा मदन ने पहाड़ों पर अनेक दुर्गों का निर्माण कराया था। इनके नाम पर यहाँ पर एक कस्बा मदनपुर आबाद है। राजा मदन ने महोबा के चन्देलों को अपने यहाँ शरण उस समय दी थी जब पृथ्वी राज चौहान ने महोबा पर आक्रमण किया था। बाद में महोबा के राजपूतों किसी कारणवश राजा मदन की हत्याकर 1190 ई० में भरों के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। राजा मदन की मृत्यु के पश्चात् उनका पौत्र घाटम राजपूतों को पराजित कर अपने पूर्वजों के क्षेत्र 1290 ई० को पुनः प्राप्त कर लिया। कुछ ही दिनों पश्चात् मिर्जापुर में भरों का क्षेत्र सुल्तानों के प्रभाव में चला गया।

संदर्भ ग्रंथ

1. कनिंधम, आ. सर्वे. रिपोर्ट,पृ. 107.
2. क्रानिकल ऑफ उन्नाव, पृ० 27.
3. ओरिजनल इन्हैबिटेंट ऑफ भारतवर्ष, भाग–2,पृ. 37.
4. सुल्तानपुर सेटिलमेंट रिपोर्ट, पृ. 87.
5. अंधकार–युगीन भारत, अनु०राम चंद्र वर्मा, काशी–नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्राकाशित, 1995, पृ० 61.
6. अंधकार–युगीन भारत,पृ.10.
7. अंधकार–युगीन भारत,पृ.11 व 12.
8. वृषांन् वैदिशकांश्चापि भविष्यांश्च निबोधत, वायुपुराण, 2–37–360.
9. नेविल– रायबरेली गजेटियर– पृ. 130.
10. रायबरेली सेटिलमेंट रिपोर्ट,1872, पृ. 15.
11. बर्गेस जास, शर्की आर्किटेक्चर ऑफ जौनपुर,पृ०104.
12. डिस्ट्रिक गजेटियर जौनपुर, पृ. 15.
13. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, एच.एम. ईलियट, लन्दन,1869, पृ. 458.
14. फरिश्ता, भाग–1, पृ. 185.

Trends of Translation in North-East India in Colonial Era

Arvind Kumar Rawat
Research Scholar (PhD)
North-Eastern Hill University
Shillong, Meghalaya

Abstract

It turns out that colonial translation effort is multifaceted. This can legitimately be referred to as a period of intervention. At that time, there were numerous new trends advancing the translation process. Due to the introduction of English with British colonizer, translation operations during the colonial era differed significantly from those of the previous century in several key respects. It should be noted that translation played a role in interpreting India under British rule (Niranjana: 1992). The translation has been used in several attempts to change how people view India. Niranjana asserted that during the colonial era, translation had become a "colonial enterprise" used to oppress the Indian people.Although the British forced their language on them and provided the Roman script to symbolize their language, translation work has also proven to be a very challenging task in North-East India. The translation trends in North-East India will be discussed in this paper, primarily in the context of the colonial era.

Keywords: History, Colonial era, Trends, North-East India, Translation

Introduction

The foundational time of the colonial era could be defined as the 18th century to the middle of the 20th century (till 1947). The East India Company was founded in India sometime between 1612 and 1757, and from that point on, from 1757 to 1858, the Company ruled India. The British Raj, which ruled India from 1858 to 1947, followed the British rule in India from 1797 to 1813. They started absorbing the populace's sensibility (their language) after taking over nearly all of India. Learning regional languages was regarded as politically proper in order to dominate the country. It was a political initiative to translate Indian languages into colonial languages.

The 18th century to the mid of the 20th century (till 1947) could be considered as the base period of the colonial era. The reason for this is that the East India Company in India was established around 1612-1757 and after that, the Company rule in India started from 1757 to 1858. The British rule in India was considered from 1797 to 1813 and the British Raj from 1858 to 1947. After occupying almost the entire part of India, they first started capturing the sensibility (their language) of the people. To rule the nation, learning of local languages was considered politically correct. Translation from Indian languages into colonial language was carried out as a political project. Phukan (2003: 27) opines that-

> "Translation has arguably never been an innocent activity, but the advent of British colonialism impacted on the practice and theorizing of translation in more ways than one. In the initial phase of colonial rule, only Sanskrit texts were chosen by British orientalists for translation into English."

Following are appropriate categories for the colonial translation trends in India in general and North-East India:

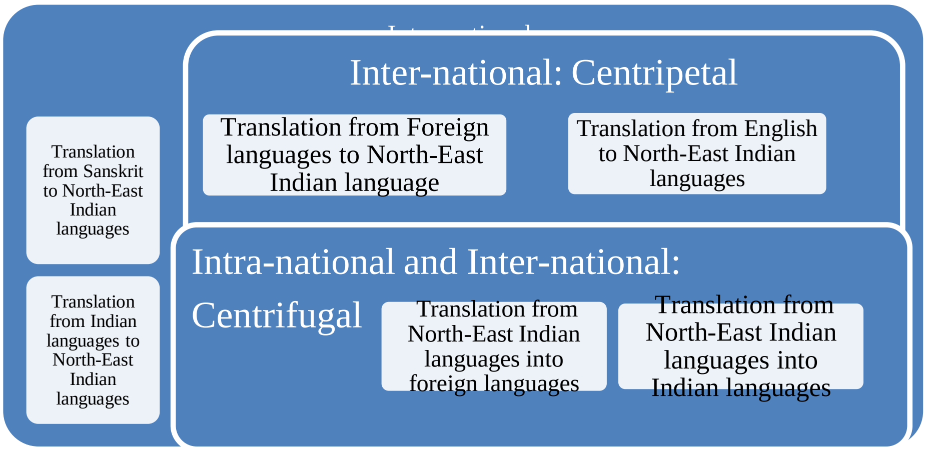

Translation trends from Sanskrit into North-East Indian languages:

Sanskrit intoAssamese:

Many translations from the Epics and Puranas written in Sanskrit during the colonial era(17th and 19th centuries) were produced in Assamese. KavirajChakarvarty translated the classic vaishnavite literature Brahmavaivarta into Assamese. It is often regarded as the most important Purana and is written in the Sanskrit language, earning the title Mahapurana. The 18000 lines and 276 chapters of the book describe the Hindu deities Radha and Krishna. The version is thought to have existed in the 1^{st} millennium AD and may have been written in the Bengal region. Bhubaneswar Bhattacharya translated the important Hindu Purana "NaradiyaPurana" into Assamese. This important scripture from the Vaishnavite tradition was translated into Assamese.

In the 18th century, Madhu Misra translated the Indian work "Hitopadesha," a collection of fables written by Narayana between the years 8 and 950 AD in Sanskrit and featuring both animal and human characters. The book "Hitopadesha" has been extensively translated into Indian languages, including Bengali, Odia, Gujarati, Kannada, Tamil, Telugu, Newari, and others. Under various titles, the work has also been translated into a number of Asian languages, including Burmese, Khmer, Thai, Malay, Persian, and Singhalese. Additionally, Hitopadesha has been translated into a number of other languages, including Dutch, English, French, German, Greek, Spanish, and Russian. It is also considered to be first Sanskrit book to be printed in Nagri script which was published with sincere effort of William Carey at Serampore in 1803-04, with an introduction by famous indologist Henry Colebrook. The text was further produced during the 19^{th} century that includes Maxmuller's interlinear literal translation of 1884. 'AbhigyanShakuntalam' written by Kalidasa was translated by Lambudar Bora into Assamese as 'AbhigyanShakuntalam' in 1877. In 1885, KaliramBarua translated Gita Govinda composed by Jayadeva as 'GeetGovind'. 'Meghaduta' in the verse form was translated by KumudeshvarBarthakur in 1920. In 1940, Ananda Chandra Barua translated 'Meghdoot' written by Kalidasa into Assamese as 'MeghdootPurbamegh'.

BageeshDwij translated "Hitopadesha" (Fables) and "NitiLatankur" (Prose). RudraramDwij and Ananta Acharya Dwija both translated "Nitratna (Prose)" and "Ananda-Lahari (Soundariya-Lahari)," respectively. VidyanandaKaviSehara and SuchandOjha respectively translated "Harivamsha (Mahabharta)" and "Srihasthamuktavali (Dance and mudra)".

Sanskrit intoKhasi:

Sanskrit texts have been translated into various North-East languages even during the colonial era. Individual translators worked enthusiastically on their translation projects. Despite the small number of Sanskrit to Khasi translations, there has been a rise in interest in translating Sanskrit literature in recent years. Even Khasi, which is the only Austro-Asiatic language in this area, was influenced by Sanskrit. Sanskrit to Khasi translations show that the action of translation was not viewed as problematic. Due to the fact that several Pan-Indian writings were generated through translation during this time, the 20th century needs to be regarded as a significant age for Khasi literature. The Sanskrit epics "the Ramayana" and "the Mahábharata" were both translated as "KaRamayon" and "Ka Mahabharata' respectively. U. Jeebon Roy translated the Bhagavad Gita in this period, as "KaBhagwad Gita."Many other Sanskrit works were translated into Khasi, including "Chaitanya," "BuddhadeoCharit," and "Hitopadesha (4 parts)."In 1902, the Hitopadesha was rendered as "Hit Opodesa" in Khasi. The "ChanakyaNitiDarpan" was translated in the same year. Hari Charan Roy Dkhar retitled the six-act Mahabharata-based play "KaSavitri" in 1910.

Sanskrit intoManipuri:

During the years 1892-1960, Ph. Basudev translated Kalidasa's "AbhigyanShakuntalam" from Sanskrit into Manipuri as "AbhigyanShakuntala."

Translation trendsfrom foreign languages into North-East Languages

Persian into Assamese:

Dwija Ram and Madhu Malati translated a Sufi text into Assamese as "ChahapariUpakhyana or MrigawatiCharitra" between 1700 and 1826. In 1925, JatindranathDowerah translated Oomar Khayyam's "Rubayat" into Assamese as "OomarTirtha." Ananda Chandra Barua translated "Hafizor Sur," a collection of poems by Hafez, into Assamese in 1933. In 1936, Moayyidul Islam translated the book "Bahristn-i-Ghayb: A History of the Mughal Wars in Assam, Cooch Behar, Bengal, Bihar, and Orissa under the Reigns of Jahngr and Shhjahn (Volume 2)" written by Mirza into Assamese.'

Hebrew into Assamese:

Old Testament from Hebrew was translated into Assamese as 'PuroniNiyam' by A. K. Garney in 1877.

Russian into Assamese:

A collection of Leo Tolstoy’s stories ‘Tolstoy's Tales’ written in Russian was translated into Assamese as ‘Tolstoyor Sadhu’ by SurendraNath Das in 1938.

Spanish into Assamese:

Don Quixote's story collection was translated from Spanish into Assamese as ‘Ba KekoDanariyarAdbhutViratva’ by Pratibha Devi in 1926.

Welsh into Khasi:

Welsh Catechism and "Rhodd Mam" or Mother's Gift were translated into Khasi as "KaJingai I mei" by Thomas Jones in 1842. In addition, he translated "Some Portion of New Testament" as "Ka Testament Batthymmai" and "Lessons on Christ teaching" as "KaKotnongialam" in 1843 and the hymn book "Hymns from Cottage" in 1845. In 1846, he also rendered "The Gospel of Matthews" as "KaKospel u Mathaios", the poem "Ten Commandments" into Khasi in 1848 written by W. Lewis. Additionally, he translated "The Gospel of Mark" and "The Gospel of Luke" in 1853. “The Acts of the Apostle’’ by Rev. William Lewis was translated into Khasi as "Ki Kam Ki Apostol" in 1853. In 1855, Rev. William Lewis and John Roberts again translated a portion of the "New Testament." In 1891, the translators completed the entire "New Testament" after 36 years.

Translation trends fromEnglish into North-EastIndian languages

English into Assamese:

Although the British government exercised its rights and began taking action to spread their religion through missionaries by means of literary activities, such as the translation of English into Assamese, in the 18th century, they initially faced many challenges. They had spread the influence of their religion throughout the entire North-East by the 18th century. The Baptist Missionary Society (BMS) started the process in Assam in 1813 by translating the New Testament of the Bible from English into Assamese. The Bible's Old and New Testaments were again translated from English by the Baptist Missionary Society (BMS) in 1837.

In order to communicate with the people of this region after the first translation of the Bible into Assamese, Nathan Brown travelled to Assam and learned the language. He was the first to translate non-literary texts such as "Podgonit" and "Lilawoti" in 1845 based on "Poetic treaties of arithmetic" from the book "KitabotMonzori" written by "BakulKayastha." In 1848, he also penned the New Testament in Assamese under the title "AmaarTraankortaJisuChristorNatunNiyom." He also translated the Assamese versions of the Gospels of Mark, Luke, Matthew, and John in the same year. His wife also worked for the missionaries as a translator. She translated Non Literary works such as- ‘GananerPuthi’ (Based on Murray's Encyclopedia on Mathematics) in 1844. The translation of Sanskrit texts into Assamese was done concurrently with the missionaries' translations from English to Assamese, and about equal numbers of translators worked on both projects. For such translation trend, Trivedi (1997: 250)opines that-

“As if in a counteracting compensatory activity [to the large number of English classics that were translated into Indian languages], an equally large number of Sanskrit texts were also translated into the modem Indian languages, often by the same multilingual translators, but, as yet, hardly any works from other Western languages.”

DurgeswarSarma translated the poem "Lucy Gray" by William Wordsworth into Assamese between 1865 and 1961 as "Sadari" (Poetry). HemchandraGoswami translated Arthur Allen's "PhularCaki" (Collection of Poems). HiteswarBarbaruah translated 'Three offerings of fallen flowers (Love's Philosophy and Lay of the Last Minstrel)' by Shelley and Scott into Assamese as "Talsara PhularTiniyajali." HemchandraGoswami translated Goethe's "A collection of the poems" into Assamese as "SaundarjarBukurKansaliUdangai" between 1889 and 1900. Elizabeth Barrette Browning's collection of "Portuguese Sonnet," also known as "MorPrem," was translated into English by DurgeswarSarma between the years of 1900 and 1966. Dr. Miles Brown translated the "Bible." During the years 1899 to 1903, he also translated the "Psalms" into Assamese. William Wordsworth’s poem “Lucy Gray” was again translated into Assamese as ‘Bakulī’ by DimbeshwarNeog during 1900-1966. During 1903-33, ‘Elegy Written upon a Country Churchyard’ written by Gray was translated by JatindranathDowerah as ‘EkhaniGanvarMariśālirOcarat’. Tennyson’s ‘Tears Idle Tears’ was translated into Assamese as ‘NawariyaGa’, and Shelley’s ‘Mutability’ was translated as ‘Saponar Sur’ by JatindranathDowerah during 1903-33. The Holy Bible into Assamese script based on the Sanskrit version was published by Baptist Missionary Society (BMS) in 1851.John Bunyan’s ‘The Pilgrim’s Progress’ (Religious Novel) was translated by Rev. Brown in 1851 as ‘JatrikatJatra’. ‘Natural Science in Familiar Dialogue’ written by E W Clark was translated into Assames as ‘PadarthaBidyasara’ by NidhiramKeot in 1855.

Shakespeare's 'The Merchant of Venice' was translated by JaneshvarSarma as 'Bhenicharshayoud' in 1880. 'Way to health' was translated by HemchandraBarua in 1886 as 'SwasthyaRakshyabaGaBhaleRakhiborUpai'. Shakespeare's 'Comedy of Errors' was translated as 'Bhiamaranga' by RamakantaBarkakatiGunjanan, Ratnadhar, &GhanashyamBaruah. The 'Hamlet' written by Shakespeare was translated into Assamese by AmritjyotiMahanta as 'Hamlet' in 1888. 'Way to health' was translated into Assamese by HemchandraBarua in 1886 as 'SwasthyaRakshyabaGaBhaleRakhiborUpai'. In 1890, a collection of some English hymns was translated into Assamese by William Carey. Shakespeare's play 'The Macbeth' was translated again into Assamese as 'Bhimdarpa' by DebanandaBharaliin 1917 and 'the Cymbeline' was translated as 'Tara' by Ambika P. Goswami in 1919. Charles Mackey's 'Today and tomorrow' was translated into Assamese as 'AjiAru Kali', Thomas Gray's 'The Shepherd and the Philosopher' was translated into Assamese as 'CahāĀruPandit'. Longfellow's 'A Psalm of Life' was translated into Assamese as 'JīvanSangīt' by Ananda Chandra Agarwalla in 1920. He also translated 'The Hermit' into Assamese written by Goldsmith as 'Jogi', Tennyson's 'The Poet's Mind' as 'KabirPrāṇ', and Charles Eliot's 'Thy Will be Done' as 'TajuIcchāPūrṇaKarāHerāDayāmay' in 1920.

After four decades, Shakespeare's plays 'The comedy of Errors' was translated into Assamese by BipinchandraBarua in 1928 as 'Bhrama-ranga'. 'The Tempest' was translated into Assamese by JajnesvarSarma as 'Dhurnuha'. 'The Merchant of Venice' was translated into Assameseby Dinesh Sarma in 1931.'Mutability' written by Shelley was translated into Assamese as 'Saponar Sur' by JatindranathDowerah during 1903-33. The 'Romeo and Juliet' was translated into Assamese by PadmadharChaliha as 'Amor Leela'. 'As You Like It' was translated into Assamese as 'BhrantiBinod', 'Taming of the Shrew' was translated as 'Danduri Daman', 'Troilus and Cressida' was translated as 'TarunKanchan' by Nabin C L Bardaloi in 1932. 'Last Days of Pompei' was translated into Assamese by Lakshesvar Sharma in 1930 as 'Pompi-ierPralayaKahani'. GreziaDalever's 'The Mother' was translated into Assamese as 'Matri' by Lakshesvar Sharma in 1931, and 'RajasthanarGalpa' was translated into Assamese by Binanda Chandra Barua in 1931. 'The Mother', a novel from Maxim Gorky was translated into Assamese as 'Matri' by DayanandaBarua in 1938. 'Arihana' (short story) was translated by SuprabhaGoswamy in 1938. 'Fairy tales of Hans Andersen' was translated into Assamese by SuprabhaGoswamy in 1939 as 'Kamika'. A play 'Hamlet' written by Shakespeare was translated into Assamese as 'Chandravir' by BodhnathPatangiya in 1946.

English into Khasi:

The 'Holy Bible' was translated into Khasi by Serampore Missionary in 1831. Dr. Watt's first catechism for children was translated into Khasi in Bengali Characters as a Pamphlet by Rev. A. B. Lish in 1836. 'The Gospel of Matthews' and 'The Gospel of John' were translated into Khasi by Rev William Lewis and published as 'Ki Saw Gospel' in 1853. In 1857, 'Ka Scripture Histori', from New Testament was translated by Robert Perry. A famous fiction 'The Pilgrim's Progress' written by John Bunyan was translated into Khasi as 'kaJingiaid U Pilgrim. A history of Jesus Christ 'Pomtypridd' was translated into Khasi as 'kaHistori U Jisukhrist' in 1870 by Mrs. William Lewis in 1867, and she also compiled a 'Khasi-English Dictionary' in the same year.In 1898, U SosoTham translated Shakespeare's 'The Tempest' into Khasi as 'U Kyllang'. John Robert translated English hymns into Khasi as 'KaKotJingrwai' in 1876. He also translated the Bible into Khasi in 1896, and poetry work 'Casabianca' as 'Kasabianka', and 'Psalm of Life' as 'KaSalm Jong kajingim' in 1900.U. Jeebon Roy translated 'History of India' into Khasi in 1901.John Roberts translated the revised version of William Lewis's 'The Pilgrim's Progress' as 'KaJingiaid U Pilgrim'which was originally written by John Bunyan in 1910.

'My Mother', poetry composed by Ann Taylor was translated into Khasi as 'I Mei Jong Nga'. William Wordsworth's poem 'Lucy Grey' was translated into Khasi as 'Ka Lucy", and 'The Highland Lass' was translated into Khasi as 'KaSamlaRiLum' by MondonBareh in 1925. He also translated some more poetry works of Sir Walter Scott's Bretahes 'There the man' as 'U IngkhongShyllangmat', Thomas Moore's 'The Last Rose of Summer' as 'U Rose KhadduhKaLyiur', William Cooper's 'The Diverting History of John Gilpin' as 'U John Gilpin' in 1925, and W. E. Hickson's 'Drive the nail Aright' as 'Sahbeitia U perk', 'Aladdin's Magic Lantern' as 'KaSharakJadu u Aladdin' in 1926.USosoTham translated a fiction 'The Life of our lord' written by Charles Dickens into Khasi as 'KaJingim U Trai Jong Ngi', and the poetry work of William Cooper 'The Diverting History of John Gilpin' was translated as 'U John Gilpin from KaDuitaraKsiar' in 1936.'Notes on Khasi Laws' was translated into Khasi as 'KaAin Khasi' by T. Cajee in 1937.

English into Garo:

'The Holy Bible' was translated into Garo during 1872-1876. 'The Gospel of Matthew', 'The Gospel of Luke', 'TheGospel of Mark', and 'TheGospel of John' were translated by the missionaries in 1876. In 1888, Miss Mason translated 'Peep of the Day', a book based on the Gospels for children as 'Sengbaa (JisukristoniGiminBisarangnaKatorang)'. In the same year, MadhunathMomin compiled and translated Aesop's Fable, Fairy Tales, Ramayana, and The Treasures Chest for the children. 'Outline of World History', a book

written by Steven was translated into Garo by Miss Ella Cecilia Bond in 1895. Garo Primer was compiled and translated into English by Russell Bemadette in 1900. Rev. M. C. Mason translated 'The Ripe Mango', and 'English Royal School Primer' in 1900. 'Life of Christ' was translated into Garo by ThangkanSangma, 'The Mirror of the Heart' was translated by MadhunathMomin, and English Translation of Gital was done by Harendra W. Marak in 1900.

In 1900, Johann Christopher Von Schmidt's 'The Basket of Flowers' was translated by Sodini G. Momin into Garo. 'The Genesis' was translated into Garo in 1903 by the missionaries.Miss Ella Cecilia bond translated 'Art of Teaching' into Garo in 1908. In 1909, the New Testament was translated into Garo by ABMU Tura.'The Old Testament' was translated into Garo by BFBS Calcutta in 1924.'Graded Bible Lessons', and 'A History of Early Church and signs of a Christian' were translated into Garo by Rev. Frederic in 1924.A book on 'Nature Study' was translated into Garo by Miss C. A. Wright in 1934. 'The Holy Bible' in Garo containing the 'Old and New Testaments' was translated into Garo in Bengali script by British and Foreign Bible Society in 1936.Mrs. Blakely in 1936 translated 'The Wonderful Houses I Live In' into Garo as 'Angnidonchahaninok'. 'Whole Garo Bible' was translated by Dr. Mason, MadhunathMomin, and Miss E. C. Bond in 1942. In 1946, Garo Primer I and Garo Primer II was translated by Miss Ella Cecilia bondin 1948. Text Books of History and Geography of Assam were translated by MadhunathMomin into Garo during 1892-1911. During the same time 'Joshua', 'Judges', and 'Ruth' were translated into Garo by the missionaries.

English into Mizo:

A Grammar and Dictionary of the Lushai Language in Dulien Dialect was compiled by Missionary in 1898.'Dictionary of the Lushai Language' was compiled by the Missionary in 1940.Hymn Book was translated into Mizo as 'Kristian Hla Bu' first edition by Missionary in 1899, and another second and third editions of this hymn book were also translated by the Missionary in 1903 and 1904 respectively. 'Come to Jesus' written into English by D. R. Newman was translated into Mizo as 'HnenahLokalRawh' by Lorrain and Savidge in 1905. 'The Story of Jesus' written by Mrs. Morten was translated in Mizo as 'IsuaChanchin' by Lorrain and Savidge in the same year. The Gospel of Matthew as 'Matthaia' and 'Gospel of Luke' as 'Luka' was translated into Mizo by Rev. F. W. Savidge& Rev. J. H. Lorrain in 1906. In the same year, the Gospel of Mark as 'Marka' and 'the Gospel of John' as 'Johana' were also translated into Mizo by F.W. Savidge.

'The Acts of Apostles', and 'Corinthian I & II' were translated into Mizo as 'Tirhkohte' and 'I &II Korinth' respectively by Rev. F. W. Savidge& Rev. J. H. Lorrain in 1907. Fourth edition of the hymn book was translated into Mizo as 'Kristian Hla Bu' by Missionary in 1908. A 'Welsh Confession' written by D. E. Jones (Zosaphuluia) was translated into Mizo by Thomas Charles in 1909. In 1910, 'Pilgrim's Progress' written by John Bunyan was translated into Mizo as 'KristianaVanramKawngZawh' by Pastor Chuautera. 'The Bible Stories' was translated by Pastor Challiana&Sapupa as 'PathianLehkhabuChanchin', and 'The word of the Cross' written by Fenney was translated as 'Kraws Thu' into Mizo by Dr. Peter Frases, M. D. & R. Dala. 'Kolossa and Philemona' was translated from English into Mizo by Zosapthara, and Torrey's work was translated into Mizo as 'HerhnaZawn Dan' by Upa R. Dala in 1911. In 1912, the books 'James', and 'Rome' from Old Testament were translated into Mizo under the same title by the Bible society of India. 'The Christian Instructor' written in English was translated into Mizo as 'Kristian Zirtirtu' by Thomas Charles in 1912. 'Galatians', 'Ephesians', 'I and II Timothy', 'Titus', and 'Jude' from Old Testaments were translated into Mizo by the Missionary in 1914. The 5th, 6th and 7th edition of hymn book was translated by the Missionary as 'Kristian Hla Bu' in 1911, 1915 and 1916 respectively. The 'New Testament' was translated into Mizo by Rev. Lorrain & Rev. Zathonge. 'Revelation' was translated into Mizo as 'Thupuan' by Zosapthara in 1916.

Aesop's Fables were translated into Mizo as 'EsopaThawnthu' by Rev. F. J. Sandy, Pasena&Rozika in 1917. 'Hosea' was translated into Mizo as 'Hosea', 'Joel' was translated into Mizo as 'Joela', 'Amos' was translated into Mizo as 'Amosa', and 'Obadiah' was translated into Mizo as 'Obadia' by Rev. Sandy in 1918. The 8th edition of the hymn book was translated into Mizo as 'Kristian Hla Bu 8' by Missionary in 1919, and 'The Book of Jonah' was translated into Mizo as 'JonaLekhabu' by Rev. Sandy in 1920.'Uncle Tom's Cabin' written by Harriet Beecher Stowe was translated into Mizo as 'PuTawma In' by L. Kailuia in 1920. The 9th edition of Christian hymn book was translated into Mizo as as 'Kristian Hla Bu' by the Missionary in 1922. 'FianrialHunum' written by W. B. Percial was translated into Mizo by Rohmingliana in 1923. C. I. Snowfield's 'The word of Truthly Divided' was translated into Mizo by Rohmingliana as 'Thu Dik then Dikna' in 1924. In 1924, 'The Book of Jonah' was translated into Mizo as 'Jonalehkhabu' by Dr. Fraser. 'A sermon book' written by Spurgeon was translated into Mizo as 'Spurgeon Sap Thurawn' by H. K. Dohnuna. The books from Old Testaments such as: 'Micah' was translated into Mizo as 'Mika', 'Nahum' was translated into Mizo as 'Nahuma', 'Habakkuk' was translated into Mizo as 'Habakkuka', and 'Zephaniah' was translated into Mizo as 'Zephania' by Rev. Sandy. In 1926, 'Psalms and Genesis' was translated into Mizo by Rev. J. H. Lorrain &Zathanga. 'The Book of Proverbs' was translated into Mizo by Zathanga in 1932. 'Isaiah' was translated into

Mizo as 'Isaia' by Rev. J. H. Lorrain &Zathanga in 1933. 'The Book of Amos' was translated into Mizo as 'AmosaLekhabu' by Rev. E.L. Mendes in 1938. Pastor Liangkhaia translated an English work into Mizo as 'SakhawKhaikhinna' in 1941. In 1942, 10th edition of the hymn book was translated from English into Mizo as 'Kristian Hla Bu 10' by the Missionary. 'Job' was translated into Mizo as 'Joba', 'Ecclesiastes' was translated into Mizo as 'Ecclesiastes', 'Jeremiah' was translated into Mizo as 'Jeremia', 'Lamentations', 'Ezekiel', 'Daniel', 'Zechariah', 'Haggai', 'Zephaniah', 'Habakkuk','Song of Songs', and 'Malachi' from the Old Testaments were translated into Mizo under the same title by Rev. Liangkhaia in 1947. In the same year, the books from Old Testaments such as- 'Joshua', 'Judges', 'I&II Kings', 'I&II Chronicles', 'Leviticus', 'Numbers', 'Deuteronomy', 'I&II Samuel', 'Nehemiah', 'Ezra', 'Ruth', 'Esther' were translated into Mizo by Rev. Chuautera.

English into Naga languages:

'The Gospels of Mathew', and 'The Gospels of John' from English into Ao languagewere translated by Rev Clarke in 1884. 'The Gospel of Saint Matthew' was translated into Angami language by Sidney White Riven burg as 'Mathew Kethu Die Kevi' in 1890. E. W. Clarke in 1911 compiled the 'Dictionary in Ao language' with head word in English.

English into Bodo:

The 'Holy Bible' was translated into Bodo by Missionary in 1900. Children literature have been produced in Bodo language through translation based on the life story of great peoples from India and World. Based on their life struggles and the good things which can be the part of everyone's life was included in the translation from other languages into Bodo. Some are: 'Radhakrishan for the children' was translatedinto Bodo as 'GothophwrniRadhakrishnan', a Biography of JyotiprasadAgarwalawas translated into Bodo as 'Jyoti Prasad AgarwalaniZiuKhwurang'. A biography of Sankardevawas translated into Bodo as 'SankardevniZiuKhwurang'.The life stories of KhonthaigiriSitanath Brahma Choudhury, GurudevKalicharan Brahma, KalaguruBishnu Prasad Rabha, Mother Teresa, and PadmashreeMadaram Brahma were translated by RupnarayanBasumatary.

English into Manipuri:

'The New Testament' was translated into Manipuri by Serampore Missionary during 1824-27. 'Elegy written in a country churchyard' written in English by Thomas Gray was translated into Manipuri as 'AwabaIshei' by K. Chaoba during 1892-1960.

Translation trends from other Indian languages into North-EastIndian languages

Awadhi into Assamese:

'Tulsidas Ramayana' was translated from Awadhi (a dialect of Hindi) into Assamese by Srikanta Surya Bipra during 1800–1826. It is a vernacular version of Ramayana in Awadhi, which is a dialect of Hindi. It was written in 17th century AD and contains 10,902 verses divided into the following seven parts:Bal Kanda, Ayodhya Kanda, Aranya Kanda, Kiskindha Kanda, Sundar Kanda, Lanka Kanda, and Uttar Kanda. It is a Hindu epic which is very famous in North-India.

Bengali into Assamese:

A book 'Wanderings of a Pilgrim' written by John Bunyan was translated from Bengali into Assamese as 'TirtharBibaran and TirtharJatra' by NidhiLibai Farwell in 1853. A Non-Literary book on 'Natural Science' was translated by NidhiLibai Farwell into Assamese during the same period. A Bengali story collection was translated into Assamese by M. E. Leslie in 1877 as 'ElokeshiBeshyarKahini'.

Bengali into Khasi:

After this, Bengali drama 'LakshmirPariksha' written by Rabindranath Tagore was translated into Khasi by HelimonKhongphai in 1940. Bengali Contemporary 'DevotarGrash', 'BidaiAbhishap', and 'SamanyaKshoti' were also translated by HelimonKhongphai during 1940's.

Bengali into Bodo:

Bengali dramas were translated into Bodo as 'VasaspatiMisra', 'Okhranggwdan', 'Phwzwbnaymwdaihari', 'Hinzaonigwhw', 'Phabnibahagw', 'HazwarihinzaoHangmasi', and 'Obongniphao' by BhabenSwargiary in 1900. In the same year, DwarendraBasumatary translated 'Razanilambar', and 'Sukharudukf'aru' into Bodo. Another dramas 'Duimali', 'HamphePalla', 'Niyati', 'Pap Mukti', 'Rajpuja', and 'Mewarkuari' were translated into Bodo by ManiramIslary, and SatishChandra Basumatary translated a Bengali drama into Bodo as 'Naiphinzaywi' in 1900.

Bengali into Manipuri:

Translation as a literary activity in Manipuri emerged in 18thcentury is said by Singh (2010):

"The history of Manipuri literature can be broadly divided in the following: (1) Middle Period i.e. from 1709 to 1891, (2) the Romantic Period i.e. from 1892 to 1960 and (3) the Modern Period i.e. from 1960 to till date."

He also discusses the role of different academic associates in the development of translation in Manipuri literature and about many translations of Manipuri language to other languages and vice-versa. In particular, he mentions the initiative taken by Sahitya Akademi and the NBT in the development of Manipuri translation. The role of translation into Manipuri appears in the early 19th century. Earlier literature could not be visible due to the lack of activities in the field of translation but 19th century came as a new dawn for Manipuri literature and translation played an important role in its development. The role of translation in Manipuri literature was inspired by Bengali literature and the first is the translation of the Bengali Ramayana.Das (1991:76), said:

"The Manipuri LangoiShagdThaba, believed to be composed around 1802, is a translation of a Bengali Ramayana. This is an instance of the relation that Manipuri had with its neighboring literature and of the flow of literary work from one area to another before the beginning of printing."

'A Canto from Ramayana' written in Bengali was translated into Manipuri as 'KishkindhaKand' by AngomGopi during 1709-1891. Books on Bengali writers and poets- 'Bankimchandra Chatterjee', 'WahengbamBiramani', 'Surchand Sharma', 'LongjamMohendra', 'Raghumanisharma', 'AribamBrajabihari', 'LourembamIboyaima', 'KalachandShastri', R K Shitaljit', and 'Atombapu Sharma' were translated into Manipuri by AyekpamShyamsundarand. BankimchandraChattopadhyay's book was translated from Bengali into Manipuri by M. Koireng as 'KapalKundala' during 1892-1960. During 1897-1946, 'MeghnadBadh' composed in Bengali by Madhusudan Dutta was translated into Manipuri by H Nabadipchandra. 'Parikshit of the Mahabharata', and a part of Ramayana 'Uttara Kanda' composed in Bengali by GangadasSen was translated into Manipuri by AngomGopi. 'AswamedhaParva' from Mahabharata composed in Bengali by GangadasSen was translated into Meitei by LongjamParshuram, and 'ViratParva' composed in Bengali by Ram Krishnadas was translated into Manipuri by YubarajaNabananda. 'SrimadBhagavat Gita' composed in Bengali by Govinda Mishra Pandit was translated into Manipuri by Parshuram during 18th Century.

Translation of Bible into North-East Indian languages in colonial era:

'The Bible' appears to be a major source text for translation into North-East Indian languages. Through translation of the Bible, the text has reached everyone who practiced Christianity.

The table given below provides the details of Bible translation into North-East Indian languages:

Assam		**Manipur**		**Meghalaya**		**Mizoram**	
Languages	**Year**	**Langu ages**	**Year**	**Langu ages**	**Year**	**Lang uages**	**Year**
Assamese	1883	Hmar	1920-Mark, 1960-NT, 1968	Khasi	1891	Hmar	1920-Mark, 1960-NT, 1968
Hmar	1920-Mark, 1960-NT, 1968	Tangkh ul	1936	Garo	1924		

Other translation activities of Non-Scheduled languages of North-East India:

'The Gospel of John' from New Testament was translated into Vaiphei by Walkin R. Robert in 1917.In 1920, 'The Gospel of Mark' from New Testament was translated into Hmar by F. J. Sandy. 'The Gospel of John' from New Testament translated into Thadou by Ngulhau Thomson in 1942. 'Whole New Testament' was translated into Hmar by H. S. Thanglung and H. L. Sela in 1946.

Translation trends from North-East Indian Languages into English

Assamese into English:

Dictionary of Assamese and English as 'AsomiyaAruragiAbhidhan' was compiled by Miles Bronson in 1867. 'AdhunikAsamiyaGadya' written by LilawatiSaikia Bora was translated into English by DevaranjanDhar as 'Anthology of Modern Assamese', and Assamese 'KaniyarKirtan' written by HemchandraBaruah was translated into English by UpendraNathBaruah during 1890-94.'Gunamala' composed by Sankardev was translated into

English as ‘Garland of Praises’ by BenudarRajkhowa in 1923. A collection of Assamese Buranji was translated into English by K. Bhuyan in 1933 as ‘TungkhungiaBuranji’.

Khasi into English:

‘Khasi folk songs’ was translated into English by P. R. T. Gurdon and published in a Book entitled 'The Khasis' in 1904. In 1906, ‘Khasi- English Dictionary’ was compiled by U. Hajjom Singh and edited by Major P.R.T and U Doherty.

Bodo into English:

‘BoroniGudiSibsaArwAroj’ written by Madaram Brahma was translated into English by M. R. Lahary in 1926.

Kokborak into English:

A Dictionary from Kokborak-English-Bengali as ‘Kothamala’ was compiled in 1906.

Discussion

Indian languages were introduced to English literature through translation. On the other hand, Bible translation into local languages was included in religious endeavours. English, a colonial language, became a standard language for translation throughout the British Raj. In a similar vein, Western academics started to respect Sanskrit.William Jones (1824) said:

“The Sanscrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin, and more exquisitely refined than either, yet bearing to both of them a stronger affinity, both in the roots of verbs and the forms of grammar, than could possibly have been produced by accident; so strong indeed, that no philologer could examine them all three, without believing them to have sprung from some common source, which, perhaps, no longer exists; there is a similar reason, though not quite so forcible, for supposing that both the Gothic and the Celtic, though blended with a very different idiom, had the same origin with the Sanscrit; and the old Persian might be added to the same family.”

The colonial ruler was also interested in translating regional language literature (oral tradition) into English and from English into regional languages in order to become familiar with the locals and their language. Sanskrit was generally considered to be a language of scholarship by several early western scholars. They were motivated to translate by the Sanskrit language's literary diversity. During the British Raj, India had a new literary environment. The field of linguist translation also broadens to include foreign languages throughout the colonial era.Ramakrishna, S. (2000) said that:

“However, colonial intervention could not and did not go beyond the translation of Sanskrit and Arabic classics into English or that of English classics into certain Indian languages. As a result, it was primarily English literature, and not European literature that was translated. The British took no initiative to promote the translation of European books into Indian languages, nor followed any avowed policy to foster translation among Indian languages. In fact, the monolingual and mono religious British had a hard time comprehending India’s multilingual and multi religious culture. With societal multilingualism as India’s greatest asset permeating all aspects of life, Indian culture remains hybrid and multilingual: each language is nourished by other languages, both Indian and European, transacting—with vibrant creativity—with the diversity of the outside world. Indian literature is and has always been produced in a linguistic ambience that draws deeply from traditional sources. Traditionally, Indian writers not only write in more than one language, and this, without conscious effort or cultivated scholarship, but also translate their own works and those of other writers. The confluence of languages is and has always been a major impetus for creative writing in India, and this trend persisted, even during the colonial period.”

In Assam, translation has a long history that predates colonialism. The Assamese language was already being translated, and this practice persisted even during the colonial era. Although there were linguistic changes once the British took over, translation from Sanskrit language remained consistent during this time.

It is true that translation is a key element of literary creativity, but it was even more crucial to do so and to reach the general public. This region's literary culture has benefited greatly from the use of translation. For North-East India, the colonial era was the key time when literary activities first began. Under colonial rule, cultural activities were being translated and acquiring shape. This region of India had an extremely rich oral culture. However, the translation opened new doors for its accessibility in the literary landscapes of both India and the rest of the world.

Since the cultural layer of literature is also conveyed into another language during the translation process, it is likewise connected to culture. However, there is a constant worry of cultural loss when translating. At the same time, translation can help to stabilise or recoup the cultural loss. Translation facilitates the cultural interaction. In this region, there has been a cultural shift brought about by translation. Early signs of a substantial cultural shift were seen.Misra (2011)also writes in this regard:

"An intense sense of awareness of the cultural loss and recovery that came with the negotiation with 'other' cultures is a recurrent feature of the literature of the seven northeast states. Each small community or linguistics group has responded through its oral or written communication of the encounters with the majoritarian cultures from either mainland India or from outside the borders of the country, in its own distinctive manner. The main waves of cultural invasion that have brought significant changes in the literary world of the region originated in Bhakti Movement. Colonialism and the Christian missionary activities that accompany it, and the new culture of development that has become a part of the global culture."

While responding to the view Borpujari (2011) says that:

"The rich literature in the local languages and dialects, and even those carried from generation to generation as part of the oral storytelling traditions among the numerous tribes, has started attracting the attention of the outside world through increasing translations."

It is true that oral literature of North-East India has attracted the attention of scholars. Indeed, it has helped in creation of indigenous literature. Borpujari (2011) further rightly says that:

"While original English writing has come out into the mainstream only recently, literature in Assamese and Manipuri has histories going back to centuries. But thanks to increasing translations, even North-Easterners, leave alone book lovers from rest of India and the world, are discovering literature from within the region. And with that the distinctiveness of the literary trends of the region."

This was also noticed during the colonial period that North-East Indian literature was acquiring shape through translation. Printing press was established to make it accessible to the people.

The role of missionaries in translation in North-East India:

In India's northeastern states, the Christian missionaries had a particularly significant influence. This impact, which came with British colonisation, altered North-East India's entire socio-political and socio-religious fabric. These alterations in North-East India's socioeconomic and religious structures resulted in social changes in the region's literary genres. They have occupied the entire territory in accordance with their aims and produced a phenomena of harmony with the local culture. A paradigm of biblical translation in North-east India was motivated by patterns in Bible translation into regional languages. Without a doubt, missionaries have helped indigenous civilizations develop and advance.

The missionaries began their work in North-East India in the nineteenth century, where they first shared the Gospels with the locals. It included the missionaries from Serampore and the Baptist church. Initially, this missionary was based in Bengal. Sadiya, a small town in Assam close to the Chinese border, was chosen as the new location for the missionary work centre. The missionaries began studying the regional dialects of North-East India.

Since most of the local languages did not have script up until now, they began translating the "Bible" into those languages in the Romanscript in order to ensure the success of their enterprise.Yanger (2017) focused:

"However, their emphasis began to shift to the majority Assamese population. They were more numerous than the tribal people and were much more accessible as opposed to the tribes who lived up in the hills. They learned the official language, Assamese, and began translation of the Gospels. In the course of time, their dream of reaching China faded away as they became increasingly involved with the local people of Assam. The missionaries had taken a new turn in the road."

Yanger (2017) has rightly talked about the transformation of North-East India in which missionaries have played vital roles:

"The first convert in the entire Northeast was an Assamese young man, Nidhiram, from the Hindu community. The missionaries' main success was not in the growth of churches but in their educational program. Although the Hindus resented the evangelistic work of the missionaries, they did not hesitate to send their children to Christian schools. The Hindus invited the missionaries to open schools at various places. It was in the schools and orphanages that children were taught the Bible along with other subjects. Some of these students became Christians, and in their adult lives, they took up the

leadership of churches…..The schools run by the missionaries and the British government in Assam were the gateway to the modern world. Some mention has been made in the Introduction about the publication of the first magazine in the Northeast from the Baptist press. This periodical, Orunodoi (meaning "the dawn"), was essentially a news magazine to provide news about the outside world and knowledge of western science and education. It became very successful and popular all across Assam."

North-East India in real sense has become a multi-cultural region. In the pluralistic socio-religious context, translation gets a real chance to flourish. Sanneh (2009: 242) is worth mentioning here:

"Translation creates a pluralistic environment of incredible variety and possibility, and invests culture with an ethical and qualitative power. That power may be defined as the capacity to participate in intercultural and interpersonal exchange, as the recognition that whatever and however we are doing now, we can do differently and, under certain circumstances, we must do differently in order to live ethically as neighbors. . . . Christianity promotes two sorts of universal appeal in its mission: the universal truth of one God is represented by the ethics of commitment to local specificity."
In this period, the translation from modern Indian languages into North-East Indian languages were encouraged.

Conclusion

According to the translation trends, English is leading language as both the source and target language in all other foreign languages. Bengali appears to be the most common source language, according on the tendency of translation from other modern Indian languages into North-East Indian languages. The primary source language for translation into Indian languages continues to be the massive Sanskrit literature. It also appears that the Bengali language and culture have had a significant impact on North-East India's literary environment. The patterns, however, imply that translation was not only used in religious literature and fields. Without a doubt, translation work flourished during the colonial era. The development and standardization of North-East Indian languages, including lexicon construction, spelling reform, and grammatical unification, were made possible by translation.

References

Niranjana, T. (1992). *Siting Translation: History, Post-Structuralism and the Colonial Context*. Berkeley: University of California press.

Trivedi, Harish. 1997. "India, England, France: A (Post-)Colonial Translational Triangle." In Translation and Multi-Lingualism: Post-Colonial Contexts, ed. Shantha Ramakrishna, 248-62. New Delhi: Pencraft International.

Singh, S. I. (2010). 'Translation in Manipuri literature'. *E-pao.net*.

Das, S. K. (1991). *A History of Indian Literature (1800-1910): Western Impact: Indian Response.* New Delhi: Sahitya Akademi.

Phukan, S. (2003). Towards an Indian Theory of Translation. Wasafiri. pp.- 27-30.

Jones, William (1824). *Discourses delivered before the Asiatic Society: and miscellaneous papers, on the religion, poetry, literature, etc., of the nations of India*. Printed for C. S. Arnold. pp. 28.

Ramakrishna, S., (2000), 'Cultural Transmission through Translation: An Indian Perspective'. In Simon, S. and St-Pierre, P. (eds.),*Changing the Terms: Translating in the Postcolonial Era*. USA: University of Ottawa Press.

Misra, T. (2011). *The oxford anthology of writings from The North East India*. India: Oxford University Press.

Borpujari, U. (2011).*Reading the North-East*. https://utpalborpujari.wordpress.com/category/literature/indian-literature/

Yanger, A. (2017). *The Impact of Christian Missions and Colonization in Northeast India and Its Role in the Tribal Nation-Building Movement*. Unpublished Thesis.

Sanneh, L. (2009). *Translating the Message: The Missionary Impact on Culture*(2nd ed.). Maryknoll, NY: Orbis Books.

विचार, विमर्श और संघर्ष की कथा 'दलित आत्मकथा'

डॉ. अरविन्द कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं मार्गदर्शक भी होता है। साहित्य में समाज के विभिन्न वर्गों, धर्मों और संस्कृतियों का चित्रण किया जाता है। साहित्य समाज की निधि कही जा सकती है। साहित्य में लेखक अपनी परिस्थितियों को झेलते हुए, जीवन संघर्ष करते हुए, अपनी विकास यात्रा तय करता है। उसी विकास यात्रा का एक हिस्सा दलित समाज भी है। समाज में सबसे निचले स्तर पर दलित समाज का व्यक्ति है। दलित साहित्य जितना नवीन है, 'दलित' शब्द उतना ही प्राचीन है। शब्द कोषों में 'दलित' शब्द का अर्थ– घिसा हुआ, पीटा हुआ, चूर–चूर किया हुआ और मर्दीत हुआ अर्थात जिसका दलन हुआ हो, जो दबाया गया हो, गुलामी की जंजीरों से जकड़ा गया हो, शिक्षा से वंचित किया गया हो, मानसिक और व्यावहारिक स्तर पर ऊँच–नीच, छुआछूत व भेदभाव से प्रताड़ित किया गया हो, वह दलित है। दलित साहित्य को जानने, समझने व परिचित होने के लिए दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य का अध्ययन करना होगा। मुख्य रूप से दलित आत्मकथाओं का जो दलितों के द्वारा लिखा गया हो, जिसमें उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। दलित शब्द का अर्थ और अवधारणा समझने के लिए भारतीय कोषों का अध्ययन करके निम्न बिन्दुओं पर पहुंचा जा सकता है– हिन्दी संस्कृत शब्द कोषों में 'दलित' शब्द का अर्थ– दलित 1. खण्डित, चूर्णिक, मर्दित; 2. अस्पृश्य, अन्त्यज; 3. नासित, ध्वंसित, नीच, हरिजन। हिन्दी शब्द कोश में दलित शब्द का अर्थ भोलानाथ तिवारी के अनुसार– दलित 1. कुचला हुआ, मर्दित, मसला हुआ, रौदा हुआ। 2. परतहिम्मत, हतोत्साहित, 3. अछूत, जनजाति 'डिप्रेस्ड क्लास' मिलता है। हरदेव बाहरी की परिभाषानुसार दलित– 1. कुचला हुआ, दबाया हुआ, (जैसे– दलित समुदाय) 2. नष्ट किया हुआ, (जैसे– दलित जाति)। दलित–– जिसका दलन हुआ हो अथवा जिसे पनपने या बढ़ने न दिया गया हो, ध्वस्त या नष्ट किया हुआ। मानक अग्रेंजी हिन्दी कोश में दलित का अर्थ इस प्रकार है। दलित– डिप्रेस्ड, दबाना, नीचा करना, झुकना, विनत करना, स्वर नीचे करना, नीचे लाना, धीमा करना, म्लान करना, दिल तोड़ना। दलित वर्ग नीची जातियों के लोग, अछूत हरिजन पीड़ित दबाये हुए, पद दलित, कुचले, सताए हुए लोग। अंग्रेजी के भार्गव डिक्शनरी में दलित का अर्थ डिप्रेस्ड है। जिसका अर्थ–उदास करना, नीचा दिखाना, अवनत करना है। हिन्दी अंग्रेजी कोश राममूर्ति सिंह में दलित शब्द के लिए डिप्रेस्ड शब्द दिया गया है, और दलित वर्ग को 'डिप्रेस्ड क्लास' दिया गया है।

आक्सफोर्ड डिक्शनरी में दलित का अर्थ 'डिप्रेस्ड' प्रायः नीची जातियों, अछूत वर्ग के लिए किया गया है। मराठी शब्द कोश में दलित का अर्थ– दल–नाश करने, दलित नाश, पावलेला, दीन–समानार्थी शब्द हैं। दलित शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के दल में 'इत' प्रत्यय लगने से हुई है। दल में इत प्रत्यय लगाने पर यह विशेषण का रूप ले लेता है। भारतीय अधिनियम 1935 के अंतर्गत दलित वर्ग को 'अनुसूचित जाति' शब्द से भारतीय भाषा में प्रयोग किया जाता है। डॉ. भीम राव अम्बेडकर ने 'दलित' शब्द को गुलाम के अर्थ में प्रयुक्त किया है, जो सर्वमान्य है।

दलित शब्द 19वीं सदी के सुधारवादी नेता कार्यकर्ता श्रीमती ऐनी बेसेनट ने सर्वप्रथम शोषितों, पीड़ितों के लिए 'डिप्रेस्ड' शब्द का प्रयोग किया। कहा जाता है कि दलित शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम डॉ. अम्बेडकर ने किया है, परन्तु वे 'पद दलित' शब्द का प्रयोग करते है। डॉ. अम्बेडकर कहते है कि– 'पद दलितों को भीषण संघर्ष और त्याग की दिव्याग्नि में तपे बैगर बड़प्पन प्राप्त नहीं होगा। अपना भविष्य

उज्ज्वल बनाने के लिए उनको तो वर्तमान सुख और जरूरतों का भी त्याग करना होगा' दलित पैंथर्स ने अपने घोषणा पत्र में दलित शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है–''दलित का अर्थ है, अनुसूचित जाति, बौद्ध कामगार, भूमिहार, गरीब किसान, खानाबदोश जातियाँ आदिवासी और नारी समाज।'' स्पष्ट है दलितों की और प्रकारारन्तर से मनुष्य की पीड़ा को अभिव्यक्ति देने का कार्य दलित शब्द करता है। संक्षेप में दीनता दासत्व अपमान जाति, वर्ग विश्व बन्धुत्व तथा क्रान्तिबोध के अलावा भी जितने भाव बोधों का ज्ञान इस शब्द से हो सकता हैं– वही दलित है। दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित शब्द को व्यापक अर्थ से जोड़ते है–''दलित शब्द व्यापक अर्थ बोध की व्यंजना देता है, भारतीय समाज में जिसे अस्पृश्य माना गया, वह व्यक्ति ही दलित है। दुर्गम पहाड़ों, बनो के बीच जीवन यापन करने को बाध्य जन जातियाँ और आदिवासी बहुत कमश्रम मूल्य पर काम करने वाले श्रमिक, बंधुआ मजदूर दलित की श्रेणी में आते हैं। वर्ण व्यवस्था ने जिसे अन्त्यज या अछूत की श्रेणी में रखा, उसका दलन हुआ, शोषण हुआ, इस समूह को संविधान में 'अनुसूचित जाति' कहा गया जो, जन्मना अछूत हैं।

दलित आन्दोलन का साहित्य 'दलित साहित्य' हैं और सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रान्ति की मशाल भी है, दलित साहित्य अनेकों दलितो, शोषितों पीड़ितों की अभिव्यक्ति है। डॉ. मुन्ना तिवारी के अनुसार–'दलित साहित्य सामंती मूल्यों और सवर्णो के उत्पीड़न के खिलाफ दलितों द्वारा रचित साहित्य है, दलित साहित्य का मूल स्वर वेदना, विद्रोह, निषेध, संघर्ष और उत्थान है। यह परम्परा के उस बड़े अंश को निषेध और नकार की दृष्टि से देखता है। जो उसके अधिकार को सीमित ही नहीं करता, बल्कि उसे तन और मन से गुलाम बनाकर अपाहिज बना देता हैं, उसके स्वाभिमान को कुचल देता है और उसे सामाजिक विधान की सरहद के बाहर ही रखता है। अतः दलित साहित्य एक हद तक इतिहास और शास्त्र विरोधी है। वह नये शास्त्र–निर्माण का हिमायती है। उनका यह विरोध न्योचित और युगीन परिस्थितियों के अनुकूल है। दलित साहित्य दलित समाज की हकीकत है।

प्रो. नामवर सिंह दलित साहित्य के सन्दर्भ में अजय नावारिया से साक्षात्कार के दौरान कहते है– ''वह सचमुच भोगा हुआ जीवन है, परन्तु कल्पनाशील ढंग से सृजित होने के बाद ही वह कला और साहित्य बनता हैं समाज में जो हाशिए के लोग हैं, उनमें अस्मिता का जागना बहुत उचित और स्वाभाविक है, इसको राष्ट्र, देश तथा मानवता के नाम पर दबाया नहीं जा सकता, अपनी पहचान होनी चाहिए और अपनी पहचान के लिए लड़ना कोई गलत नहीं है। डॉ. चन्द्रकुमार बरठे दलित साहित्य के सन्दर्भ में कहते हैं कि 'सादियों से पीड़ित समाज पर जो अन्याय और अत्याचार किये जाते रहे है, उसका विरोध और दलित जीवन का चित्रण करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है।' डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर कहते हैं, 'दलित साहित्य का मूल आधार दलितोत्थान है। अतः किसी भी साहित्यकार द्वारा दलितोत्थान हेतु लिखा गया साहित्य दलित साहित्य की सीमा में आता है।' प्रो. शरद नारायण खरे दलित साहित्य के सन्दर्भ में कहते हैं कि 'दलित साहित्य को दलित वर्ग के हितों की पैरवी करने वाला साहित्य है। इसमें दलितों के कष्टों, समस्याओं और दमनियता का उल्लेख है। तो उसी में उनकी पीड़ा, वेदना, टीस और कसक की अभिव्यक्ति भी है। साथ ही मुक्ति का आव्हान और समस्याओं का समाधान एवं परेशानियों के निराकरण की आवाज भी है।' रूपचन्द गौतम के मतानुसार 'दलित साहित्य दूसरे साहित्य से भिन्न है क्योंकि यह मजलूमों और दलितों का साहित्य है। दलित साहित्य इसलिए गैर–दलित साहित्य में अन्तर एवं भेद रखता है, क्योंकि गैर–दलित साहित्य में दलितों का चित्रांकन तो हुआ है, किन्तु दलित समस्याओं का कहीं भी निदान प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसे केवल व्यावसायिकता ही कहा जायेगा। दलितों द्वारा लिखा गया, साहित्य स्वयं भोगा हुआ यथार्थ है। बौद्ध संस्कृति और अम्बेडकर का चिंतन ही दलित साहित्य है।' विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के शब्दों में दलित साहित्य की परिभाषा, 'दलित चेतना भारतीय जाति व्यवस्था की कोख से या कहें कि अस्पृश्यता की दारूण वेदना से पैदा हुई है, लेकिन यह मूक अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, इसमें अस्वीकार, निषेध, विद्रोह और संघर्ष की आग भी है।' मनोहरश्याम जोशी के अनुसार 'दलित साहित्य सहानुभूति की अपेक्षा

स्वानुभूति ज्यादा प्रामाणिक और प्रभाव पद होती है।' प्रो. निर्मला जैन कहती है कि 'दलित लेखन मुख्यतः नहीं तो काफी हद तक आत्मकथा या कम से कम आत्मकथात्मक अनुभवों पर टिका है।'

दलित शब्द और दलित साहित्य पर विभिन्न विद्वानों के विचार व मत से अवगत होने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वास्तव में दलित साहित्य जीवन की दर्दनाक तड़पन है। रोंगटे खड़ा कर देने वाला साहित्य है, जिसकी अनुभव की अभिव्यक्ति दलित लेखक की रचनाओं में वर्णीत होता है। चाहे वह दलित साहित्य की आत्मकथा, कविता, कहानी, उपन्यास कोई भी विधा हो, जिसमें उसका एक लक्ष्य दिखाई पड़ता है। वह है–सामाजिक परिवर्तन की मांग।

आत्मकथा का लेखन भारतीय साहित्य में नहीं मिलता, यह पाश्चात्य साहित्य पर आधारित विधा है। हिन्दी में मुख्य रूप से दलित साहित्य का आगमन मराठी साहित्य से से होता है। आत्मकथा की अवधारणा अनेक शब्दों के द्वारा प्रस्तुत की जाती है जो निम्न प्रकार से है। आत्मकथा मूलतः अंग्रेजी शब्द 'आटोवायोग्राफी' का हिन्दी अनुवाद है। संस्कृत में आत्मवृत्तकथनम् और आत्मचरितम् शब्द अवश्य मिलते हैं। जो आत्मकथा के अर्थ में स्वीकृत शब्द है। आटोवायोग्राफी के लिए हिन्दी में अनेक शब्द प्रचलित है– आत्मकथा, आत्मवृत्त, आत्मगाथा, आत्मचरित, आत्मचरित्र–चित्रण, आत्मचरित रचना, आत्म–चरित जीवन, आत्मनेपद, आत्म कहानी, आप बीती, मेरी कहानी, अपनी कहानी, जीवन यात्रा, अपनी खबर, जीवन कहानी आदि किन्तु इन सभी शब्दों के मध्य 'आत्मकथा' शब्द ने अपना विशिष्ट स्थान बनाया है और आटोवायोग्राफी के अनुवाद रूप में 'आत्मकथा' शब्द को व्यापक स्वीकृति मिली है। हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लेखन की परम्परा नहीं थी, यह पाश्चात्य साहित्य की देन है। हिन्दी साहित्य में बहुत आत्मकथाएँ लिखी जा रही है। लेखकों के लिए कोई जोखिम भरा कार्य नहीं था। लेकिन दलित लेखकों द्वारा जो दलित आत्मकथाएँ लिखी जा रही है, वह उनके लिए जोखिम भरा कार्य है। मराठी में सर्वप्रथम दलित आत्मकथा बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर की ''मी कसा झला'' (मैं कैसे बना) प्रकाशित हुई, इससे प्रभावित होकर मराठी दलित आत्मकथा और हिन्दी दलित आत्मकथा की शुरूआत होती है। ''मी कसा झला'' नामक आत्मकथा पढ़कर दलित लेखकों में जागरूकता और अपनी भोगा हुआ यथार्थ, मानसिक गुलामी आदि कहने की ताकत मिली। दलित लेखकों द्वारा लिखित दलित आत्मकथाओं का संक्षिप्त परिचय कराना चाहूँगा, जो निम्न हैं–

'मैं भंगी हूँ' नाम से 1981 में प्रकाशित हुई, इस आत्मकथा के माध्यम से लेखक ने अछूत समझी जाने वाली भंगी जाति की समस्याओं का वर्णन किया है। 'मैं भंगी हूँ' दरअसल केवल एक जाति– 'भंगी जाति' की कहानी नहीं। एक अछूत की कहानी है। भिन्न–भिन्न पेशों के कारण जीविका कमाने के तरीके में थोड़ा सा फ़र्क है, परन्तु सभी अछूत जातियों के लोगों का सोचने का ढंग एक सा है। इतिहास एक है। आकांक्षाएँ, अभिलाषाएँ, आशाएँ तथा खतरे एक से हैं। एक ही प्रकार के अत्याचारों के वे शिकार रहे हैं।

'अपने–अपने पिंजरे' हिन्दी के वरिष्ठ दलित लेखक 'मोहनदास नैमिशराय' की आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' सन् 1995 में प्रकाशित हुई। इसका दूसरा भाग सन् 2000 में प्रकाशित हुआ। इस आत्मकथा को हिन्दी दलित साहित्य की प्रथम आत्मकथा माना जाता है। लेकिन मुझको लगता है कि प्रकाशन की दृष्टि भगवानदास की आत्मकथा (मैं भंगी हूँ) का प्रथम संस्करण 1981 ई. में प्रकाशित हो चुका था और इसे ही हिन्दी दलित साहित्य की प्रथम आत्मकथा मानना चाहिए। 'अपने–अपने पिंजरे' आत्मकथा में लेखक ने दलित जातियों के परिवेश धार्मिक–सामाजिक कार्य–कलाप मेरठ के त्यागियों द्वारा शारीरिक मानसिक व आर्थिक शोषण, बेगारी, अशिक्षा, स्कूल–कालेजों में जातिगत राजनीति प्रेम–प्रसंग आदि के साथ उस शहर का यथार्थ चित्रण किया है।

'जूठन' ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' ऐसा दस्तावेज है जो दलित–उत्पीड़न की प्रक्रियाओं को उद्घाटित करता है। सामाजिक रीति–रिवाजों, प्रथाओं व कथित परम्पराओं में छिपे दलित–उत्पीड़न की ब्राह्मणवादी मोर्चाबन्दी से बचना व बचकर अपना रास्ता बनाना तथा इसके विरूद्ध

संघर्ष करने का माद्दा, जज्बा और संकल्प का आधार भी तैयार करती है। ब्राह्मणवाद के तंतुओं को जो समाज में असमानता को वैद्य ठहराने का तथा श्रेष्ठ नीच को मान्यता देने का आधार तैयार करते हैं। जो कभी वंश–गोत्र के रूप में आते हैं, तो कभी कथित उच्च जाति के रूप में, ओमप्रकाश वाल्मीकि इनकी पहचान करते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने आत्मकथा 'जूठन' के माध्यम से भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म और इतिहास में पवित्र तथा उत्कृष्ट समझे जाने वाली तीन प्रतीकों – क्रमशः शिक्षण संस्थान, गुरू यानी शिक्षक एवं प्रेम पर कड़ा प्रहार किया है तथा यह दिखाने की कोशिश की है कि दलित समाज को अपने व्यक्तित्व निर्माण तथा सामाजिक विकास की प्रक्रिया में इन तीनों प्रतीकों की नकारात्मक भूमिकाओं का सामना करना पड़ता है। 'जूठन' का नायक मुंशी जी शिक्षण संस्थानों में मार खाते हुए इसलिए पढ़ाई जारी रखता है कि पढ़–लिखकर जाति सुधारनी है।

'तिरस्कृत और संतप्त' सूरजपाल चौहान की दो आत्मकथाओं में पहली आत्मकथा 'तिरस्कृत' 2002 तथा दूसरी आत्मकथा 'संतप्त' 2006 में प्रकाशित हुई। प्रो. काशीनाथ सिंह लिखते है कि–'तिरस्कृत' यदि तिरस्कृत होने की आत्मकथा है तो 'संतप्त' तिरस्कृत होने के संताप की। तिरस्कार की पीड़ा महसूस करनी है तो 'संतप्त' पढ़िए। और उसकी वजह जाननी हो तो तिरस्कृत पढ़िए। लेखक को सवर्ण समाज के द्वारा तिरस्कार तो मिलता है लेकिन और अत्यधिक दुःख तब होता है, जब अपने परिवार, रिस्तेदार, नातेदार के द्वारा तिरस्कारित होता है। 'झोपड़ी से राजभवन' माता प्रसाद की आत्मकथा 'झोपड़ी से राजभवन' 2002 में प्रकाशित हुई। यह आत्मकथा यह साबित करती है कि माता प्रसाद जी को जो राजभवन मिला है, वह पैतृक विरासत में नहीं मिला है बल्कि वह उनके परिश्रम का फल हैं। 'दोहरा अभिशाप' यह कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा 2009 में प्रकाशित हुआ। इस आत्मकथा के माध्यम से लेखिका ने यह बताया है कि स्त्रियों के मामले में सवर्ण पुरूषों की सोच और दलित पुरूषों की सोच में कोई अन्तर नहीं है। स्त्री का दोहरा शोषण होता है। एक तो स्त्री होने का तो दूसरा दलित स्त्री होने से, सवर्ण समाज के पुरुषों द्वारा शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना का शिकार आये दिन होती हैं।

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा 2009 में प्रकाशित होती है। लेखन ने इसे महाकाव्यात्मक बचपन का एकालाप कहा है। जिसमें बहुसंख्य आवाजे संलिप्त हैं। डॉ. ललिता कौशल कहती है कि आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन की त्रासद स्थितियों में गुजरे बचपन की एक अनूठी कृति है।'' 'तिरस्कार' आत्मकथा के. नाथ की 1999 में प्रकाशित हुई लेखक ने इस आत्मकथा के द्वारा यह बताया है कि आज भी गाँवों में दलितों के प्रति तिरस्कार की भावना सवर्णो में व्याप्त है तथा शहरों में भी है लेकिन उसका माध्यम अलग है। लेखक गाँव छोड़कर शहर में जाता है और शहर में भी वही समस्या से गुजरता है। उसी का वर्णन इस आत्मकथा में किया है। दलित व्यक्ति की जाति पीछा नहीं छोड़ती। 'मुर्दहिया' दलित चिन्तक डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' 2010 में प्रकाशित हुईं, लेखक ने बताया कि मुर्दहिया हमारे गाँव आजमगढ़ का एक स्थान है, जहाँ चरवाही से लेकर हरवाही तक सभी रास्ता उसी स्थान से होकर गुजरती है। मुर्दहिया स्थान पर सभी मरे जीव–जन्तु, पशु–पक्षी और मनुष्य दफनाएँ जाते हैं। यहाँ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं हैं, लेकिन भारतीय समाज में मनुष्य–मनुष्य के बीच में जातिय भेदभाव है। एक जाति दूसरे जाति से घृणा करता है, इसी का वर्णन इस आत्मकथा में वखूबी किया गया है।

'शिकंजे का दर्द' सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' 304 पृष्ठों की 2011 में प्रकाशित हुई। लेखिका ने यह दर्शाया है कि दलितों को सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों के शिकंजों में फसाया जाता हैं, लेखिका कहती है कि मेरे आसपास अनेक शिकंजा जकड़ा हुआ था। यह आत्मकथा उसी अनुभूति की अभिव्यक्ति है। लेखिका के कंधो पर कम उम्र में घर–परिवार की जिम्मेदारी पड़ जाती है। उस जिम्मेदारी का निर्वहन करते हुए लेखिका अपनी पढ़ाई जारी रखती है और आज प्रोफेसर के पद पर कार्यरत है। नवेन्दु महर्षि की पाँच आत्मकथाएँ प्रकाशित होती है, जिसमें

पहली 'इंसान से ईश्वर तक' दूसरी 'मेरे मन की बाइबिल', तीसरी 'रूकी हुई रोशनी', चौथी 'कुछ काँटे कुछ फूल' और पाँचवी 'मेरा बचपन मेरा संघर्ष' इन सभी आत्मकथाओं में लेखक के जीवन के अनुभव है। जिसमें कुछ अच्छे भी हैं और कुछ बुरे भी है, पर लेखक ने अपने जीवन के सकारात्मक पहलू को विशेष महत्व दिया हैं।

'घूटन' आत्मकथा डॉ. रामशंकर आर्य की 2007 में प्रकाशित हुआ। लेखक ने इस आत्मकथा में दलित समाज के शिक्षा सम्बन्धी और गाँव तथा शहर की समस्या को दिखाने का प्रयास किया है। इस आत्मकथा के सम्बन्ध में रमणिका गुप्ता कहती है कि ''जब कोई व्यक्ति आत्मकथा लिखता है तो वह एक व्यक्ति की कुंठाओं, विकृतियों और आत्मकथाओं का किस्सा होती है। ठीक इसके विपरीत जब कोई दलित लेखक अपनी आत्मकथा लिखता है तो वह पूरे दलित समाज की कथा कहता है। घूटन दलित समाज का दमघेंटू जीवन की कथा है।

'एक भंगी कुलपति की अनकही कहानी' यह प्रो. श्यामलाल जोला की आत्मकथा 2004 में प्रकाशित हुई, लेखक भंगी जाति का है, वह जीवन की अनेक कठिनाईयों को सहते हुए शिक्षा ग्रहण करता है और अंततः कुलपति पद तक पहुँच जाता हैं, लेखक के अनुसार शिक्षा ही एक मात्र साधन है, जो दलितों को उच्च शिखर तक पहुंचाता है। ये डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित थे। दलित समाज को इस आत्मकथा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने की संदेश भी देते है।

'यादों के पंछी' यह श्री प्र.इ. सोन काम्बले की आत्मकथा है। जो एक अनाथ बालक के जीवन संघर्ष की कहानी है। माता–पिता की बचपन में मृत्यु हो जाने से लेखक दर–दर की ठोकरें खाकर जीवन जी रहा था तथा अपनी पढ़ाई लगातार जारी रखा। अन्ततः शिक्षा के माध्यम से वह उच्च शिखर को प्राप्त करता है, यह आत्मकथा अनाथ बच्चों के लिए ऊर्जा प्रदान करने का काम करती है।

'नागफनी' रूपनारायण सोनकर की यह आत्मकथा 2007 में प्रकाशित होती है। इस आत्मकथा में लेखन ने दिखाया है कि कोई भी दलित, ब्राह्मणों के सामने चारपाई पर नहीं बैठ सकता, सवर्णो के रास्ते से कोई दलित नहीं जा सकता। लेखक कहता है कि एक बार हमारे घर पर कुछ रिश्तेदार आये हुए थे, वे लोग चारपाइ पर बैठे हुए थे, ब्राह्मण के आने पर वे नहीं उतरे तो दलितों और ब्राह्मणों में संघर्ष क्षीण गया। लेखक के अनुसार दलित चाहे जितना भी पढ़ ले रहेगा तो दलित ही। लेखक कहता है कि अपनी अस्मिता के लिए लड़ाई लड़नी होगी।

'छोरा कोल्हाटी का' 'यह एक रखैल के बेटे की कथा है, इसके लेखक किशोर शान्ता बाई काले हैं, इनकी माँ नाचने गाने की काम करती है। इसमें लेखक ने यह दिखाया है कि जो लड़किया स्टेज पर नाच –गा कर सामने बैठे लोगो की मन बहलाती है। लेकिन पर्दे के पीछे खून की आँशु रोती है। नाचना गाना उनका शैक नहीं है बल्कि मजबूरी हैं। 'अक्करमाशी' इस आत्मकथा के लेखक शरण कुमार लिम्बाले हैं। ये समाज के समाने सवाल खड़ा करते है कि ''मेरी माँ दलित और पिता सवर्ण, मुझे पालने वाली नानी या दाई माँ दलित, अछूत और दादा या नाना मुश्लिम तो मैं सवर्ण हूँ या मुश्लिम या दलित, क्योंकि मेरी माँ सवर्ण की रखैल है। मेरा संबंध फिर किस जाति से होगा। मैं अक्करमाशी हूँ। मराठी में अक्करमाशी का अर्थ होता है– जारज़ पुत्र, यानि माँ का पता हो और पिता का पता नहीं होता हैं। यह आत्मकथा बहुत प्रश्न करती हुई आगे बढ़ती है। लेखक कहता है कि प्राथमिक विद्यालय में फार्म पर पिता का नाम लिखने के लिए अध्यापक ने कहा की अपनी माँ से पिता का नाम पूछकर बताओ तो माँ ने खिजकर कहा जा अपने गुरु जी से कह दे मैं रखैल का बेटा हूँ। लेखक कहता है कि उस समय मुझे 'रखैल' शब्द का अर्थ पता नहीं था। जब बाद में 'रखैल' शब्द का अर्थ मालूम हुआ तो सौ विच्छू के डंक का दर्द भी कम लग रहा था। लेखक कहता है कि यह मेरी समस्या नहीं है। यह सैंकड़ों बच्चों की समस्या है, जो रेलवे स्टेशन, बस स्टेण्ड और ढ़ाबे पर भीख मांगते और जूठे बर्तन मांजते मिल जायेंगे। वे कौन है? उनका सम्बन्ध किससे है?

'उचक्का' यह आत्मकथा लक्ष्मण गायकवाड़ की 1992 में प्रकाशित हुई। लेखक ने इस आत्मकथा में यह बताया है कि दलितों की निम्न जाति होने से उनको सवर्णों द्वारा कोई काम नहीं दिया जाता था, तब वे मरे पशु के मांस खाकर जीवन यापन करते थे। मरे हुए पशु नहीं मिलने पर चोरी करने को मजबुर होते थे, अन्ततः उचक्कागिरी करनी पड़ती थी। और पुलिस की मार खानी पड़ती थी। कभी–कभी पुलिस शरीर पर लाल मिर्च पाउडर और नमक छिड़ककर पीटती थी, यह दुख भरी आत्मकथा मेरे जीवन की अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

अन्ततः यही कहना चाहूँगा कि दलितों द्वारा लिखे सभी दलित आत्मकथा डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित हैं, जिन्हें इतनी बेबाक रूप से बात करने की सहास और उर्जा आई है। सभी दलित आत्मकथा लिखने का एक मात्र उद्‌देश्य सामाजिक परिवर्तन के साथ–साथ समतामूलक समाज स्थापित करना चाहते है, दलितों को भी मनुष्य के रूप में देखा, सुना और समझा जाये। पुस्तकों के अध्ययन और आलोचकों के विचार को शामिल करते हुए, इस आलेख में द्वितीय शोध अनुसंधान का प्रयोग किया गया है।

संदर्भ सूची :–

1. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने जिंजरे, भाग 1,2 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1995, 2000
2. भगवान दास, मैं भंगी हूँ, गौतम बुक सेन्टर शाहदरा, दिल्ली, संस्करण 1981
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
4. माता प्रसाद, झोपड़ी से राज भवन, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
5. चन्द्र कुमार वरठे, दलित साहित्य आन्दोलन, रचना प्रकाशन, 1997
6. सुभाष चन्द्र, दलित आत्मकथाएँ : अनुभव से चिन्तन, इतिहास बोध प्रकाशन इलाहाबाद, 2006
7. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, 2009
8. रजन रानी तीन, हिन्दी दलित कथा साहित्य : आवधारणाएँ और विधाएँ, अनामिका प्रकाशन नई दिल्ली
9. सविता सिंह, हिन्दी आत्मकथाः स्वरूप विवेचन और विकासक्रम, शैलजा प्रकाशन कानपुर, 2009
10. डॉ. श्योराज सिंह बेचेन, मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
11. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2011
12. कौशल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली 1999
13. लक्ष्मण, गायकवाड़, उच्चका, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, 2001
14. शरण कुमार लिम्बाले, अक्करमाशी, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, 1991
15. सूरज पाल चौहान, तिरस्कृत, अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद, 2002
16. सूरजपाल चौहान, संतप्त', वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2006
17. तुलसीराम मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

शिक्षा के क्षेत्र में डा0 राधाकृष्णन का योगदान

डॉ0 विनीत कुमार मिश्र
असिस्टेन्ट प्रोफेसर (बी0एड0)

डॉ. राधाकृष्णन् द्वारा प्रतिपादित दर्शन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यही है। कि हम उसमें प्राचीनतम दार्शनिक धारणाओं से लेकर आधुनिकतम भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक विचारों का विवेचन के साथ ही उन सबका समन्वय भी पाते हैं। लेकिन फिर भी हम उन्हें समन्वयवादी विचारक मात्र कहने की धृष्टता नहीं कर सकते क्योंकि अपने मौलिक विचारों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के द्वारा वह एक प्रत्ययवादी के रुप में दार्शनिक जगत् में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुके हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् ने विश्व में भारतीय दर्शन के महत्व को स्थापित करते हुए जोरदार शब्दों में घोषणा की है कि भारतीय दर्शन को अन्य दार्शनिक परम्पराओं से कम समझना एक बड़ी भूल है। आलोचकों ने भारतीय दर्शन के विरुद्ध जो कुछ लिखा है वह अज्ञानता के कारण है। डॉ0 राधाकृष्णन ने अपने अकाट्य तर्कों के द्वारा भारतीय दर्शन के उज्ज्वल पहलू को उजागर किया। उन्होंने विश्व को भारतीय दर्शन का वह संदेश सुनाया जो हमें उच्च आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। उनका कहना है कि भारतीय दर्शन उच्च वौद्धिक स्तर पर विशाल एवं सम्पूर्ण रुप से स्पष्ट होता है, जिसके अध्ययन से हमारे विचार न केवल प्रकाशान्वित होते हैं बल्कि उनके अध्ययन के पश्चात् हम वहाँ नहीं रहते जहाँ पहले थे। वस्तुतः भारतीय दर्शन अपने आप में पूर्ण दर्शन है।

सत्य यह है कि भारतीय दर्शन की महानता से विश्व को परिचित कराने के, डॉ.राधाकृष्णन् के अनवरत प्रयासों ने उन्हें अमर बना दिया है। हम उन्हें संसार का ऐसा महान दार्शनिक कह सकते हैं जिन्होंने पूर्व तथा पश्चिम के दर्शन, धर्म एवं संस्कृति के तत्वों को समन्वित करके, संजो करके एक विश्व दृष्टिकोण के निर्माण का प्रयत्न किया। अपने विशाल एवं गहन अध्ययन के द्वारा प्रथम वे पूर्व तथा पश्चिम की परम्पराओं से परिचित हुए तथा इसी योग्यता के द्वारा उन्होंने पूर्व के विचार पश्चिम को तथा पश्चिम के विचार पूर्व को सफलता पूर्वक आदान–प्रदान कराने के लिए सामान्य धरातल के निर्माण का प्रयास किया जिस पर दोनों जगत् के दार्शनिक विचार समन्वित रुप में पल्लवित एवं विकसित हो सके। ज्योर्ज पी.कोजर ने पी.ए. शिल्प द्वारा सम्पादित **फिलॉसफी ऑफ** सर्वपल्ली राधाकृष्णन् में लिखा है कि हमारे युग के दार्शनिकों में अन्य किसी ने इतने विभिन्न क्षेत्रों में इतनी अधिक उपलब्धियां अर्जित नहीं की हैं, जितनी भारत के सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने पूर्व तथा पश्चिम से परिचित कराने में अन्य किसी को इतना श्रेय नहीं दिया जा सकता जितना डॉ. राधाकृष्णन को मिलना चाहिए यही कारण है कि उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सेतु निर्माता तथा पूर्व और पश्चिम के बीच सम्पर्क विधाता कहा जाता है।

डॉ. राधाकृष्णन ने अपने दर्शन तथा दार्शनिक रचनाओं में तुलनात्मक विधि को अपनाया है। उनकी यह मान्यता थी कि आज हमारे सामने अहम प्रश्न यह है कि हम पूर्व और पश्चिम के विचारों में, वे तत्व देखें जो हमें पास लाते हैं तथा एक दूसरे से परिचित कराते हैं। भारतीय चिन्तन की आधुनिक परम्परा में डॉ. राधाकृष्णन का योगदान अतिमहत्वपूर्ण है। उन्होंने तत्वमीमांसा (विश्व विकास का सिद्धान्त) ज्ञान मीमांसा, धर्म, दर्शन, पुनर्जन्म, कर्म के सिद्धान्त, नीतिदर्शन, सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शन आदि सभी विद्याओं पर अपने दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये हैं। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में उनके योगदान को ठीक समझने के लिए इन सब पर संक्षिप्त दृष्टि डालना आवश्यक है।

अपने तत्वमीमांसीय विवेचन में डॉ. राधाकृष्णन ने सर्वप्रथम परमतत्व (The Absolute) तथा ईश्वर (God) में भेदा किया है। मूल रूप में अद्वैत वेदान्ती होने के कारण डॉ. राधाकृष्णन् मानते हैं कि परमतत्व या ब्रह्म सम्पूर्ण सत्य है। वह निरपेक्ष परमतत्व विश्व से परे हैं। वह सब सत्ताओं, सब विशेषों

को अधिष्ठान के रूप में देखते हैं जो ईश्वर कहलाता है। वे कहते हैं कि जब परमतत्व की अनन्त संभावनाओं की एक सम्भावना का जगत् के रूप में वास्तविकरण होता है, तब हम उसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर सृष्टा के रुप में वैयक्तिक है, The absolute is the pre-cosmic nature of God and God is the Absolute form of the cosmic point of view ईश्वर परमतत्व, शिव एवं सुन्दर के नाम से जाना जाता है।

परमतत्व तथा ईश्वर के बीच चर्चा करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं कि ईश्वर मानवीय लक्ष्य की दृष्टि से परिपूर्ण है। विश्व के निरपेक्ष में हम परमसत्ता को ब्रह्म कहते हैं और विश्व की सापेक्षता में उसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर की यह अवधारणा उनके समन्वय के समर्थका अनुपम उदाहरण है। इसमें ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म, प्लेटो, अरस्तू, बर्गेस, स्वाइटहेड, एलेग्जेन्डर तथा लॉयड मार्गन के विचारों की झलक स्पष्ट नजर आती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि डॉ. राधाकृष्णन् एक विश्व दर्शन के निर्माण के लिए सतत् प्रयत्नशील दार्शनिक रहे हैं।

डॉ. राधाकृष्णन ने दूसरे चरण में पदार्थ, जीवन तथा चित्त का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार पदार्थ एक वैद्युत शक्ति है जो गतिशील है तथा सारा जड़ जगत् आपस में सम्बन्धित हैं। देश और काल उसके आवश्यक अंग हैं जिन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है।

जीवन तो जड़ वस्तु से उच्च स्तर का तथ्य है। उनमें संरचना की एक स्पष्ट व्यवस्था प्रतीत होती है। प्राण के अविर्भाव से जो स्पंदन, श्वांस, प्रश्वांस क्रिया, जनन एवं सवंर्धन की विशेषताएँ सामने आती हैं, वे इस बात को स्पष्ट करती हैं कि जीवन जड़ से सर्वथा भिन्न है।

चित् या चेतना जीवन से भी उच्चतर स्तर का विकास है। चिन्तन वेदना तथा चेष्टा चेतना की विशेषताएँ हैं। जैसे प्राणवान शरीर भौतिक पदार्थ से उच्चतर स्तर की वस्तु है उसी प्रकार चेतना जीवन से उच्चतर स्तर की वस्तु है। मानसिक क्रिया भौतिक या शारीरिक क्रिया नहीं है।

डॉ. राधाकृष्णन् दूसरे दार्शनिकों की तरह आत्मा को द्रव्य पदार्थ नहीं मानते बल्कि आत्मा से सब सत्ता का अधिष्ठान मानते हैं। यह न तो अन्नमय, न मनोमय, न विज्ञानमय है। बल्कि इन सब का आधार तत्व है। आत्मा ही विश्वात्मा अथवा चौतन्य है जो अन्य सब को निहित करता है। परमतत्व ईश्वर और आत्मा अथवा चौतन्य है जो अन्य सब को निहित करता है। परमतत्व ईश्वर और आत्मा सभी एक व्यापक तत्व के भिन्न दृष्टियों से भित्र–भित्र नाम है। परन्तु साथ ही डॉ. राधाकृष्णन् आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करते हैं। परमात्मा से एकल की अवस्था भी आत्मा के व्यक्तित्व का हरण नहीं करती। वस्तुतः निरपेक्ष एकत्व संभव नहीं है। उनके अनुसार मुक्त आत्मायें जगत से अलग न रहकर जगत में ही अन्य जीवों के उत्थान में सहायक बनी रहेगी अर्थात् ऐसा मुक्त व्यक्ति आत्म– मुक्ति लाभ में दूसरों की सहायता करता है। फ्रेग्मेन्ट्स ऑफ ए कान्फेशन में डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं कि इस स्थिति में व्यक्ति वैश्विक प्रक्रिया में एक तुच्छ और परिमित अहं के रुप में नहीं रहता है बल्कि एक ऐसी स्वर्गीय तथा सार्वभौमिक चेतना के स्तर पर रहता है जो व्यक्ति के प्रत्ययों को रुपान्तरित और लय करती चलती है और अन्त में जब व्यक्ति मोक्ष लाभ कर लेता है तब यह विश्व प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। यहाँ स्पष्ट होता है कि डॉ.राधाकृष्णन् सर्वमानव कल्याण और मानवतावाद के कितने प्रखर समर्थक हैं।

प्रयोजनमूलक विकासवाद–

डॉ. राधाकृष्णन की मान्यता है कि सृष्टि का विकास अपने अन्तिम कारण परमसत्ता की ओर अग्रसर था। परमसत्ता ने स्वयं को सभी स्थूल सूक्ष्म चेतन में अभिव्यक्तः किया है तथा पूर्णत्व का अर्थ है सब कुछ का आध्यात्मिक हो जाना। परमसत्ता जड़ से लेकर विकास के प्रत्येक स्तर पर विद्यमान है। इस प्रकार उनके दर्शन में सम्पूर्ण विकास को आध्यात्मिकता के विकास के रूप में देखा गया है। यद्यपि वे वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं किन्तु उन्हें पूर्ण नहीं मानते क्योंकि वैज्ञानिक यह नहीं बताते कि विकास का अन्तिम लक्ष्य क्या है। विश्व विकास की प्रक्रिया को प्रयोजनवादी मानते हुए वे कहते हैं कि यह विकास अनायास या अकस्मात् न होकर प्रयोजनपूर्ण है।

डॉ. राधाकृष्णन के प्रयोजनवादी विकासवाद की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि मनुष्य स्वयं अपने तथा वैश्विक विकास में सहायक होने में समर्थ है। वह

अपनी आध्यात्मिकता का विकास करके जगत के विकास में योगदान कर सकता है। मानव के सतत् प्रयास इस जीवन में तो उसे उच्चतर की ओर ले जाते ही हैं, साथ ही भविष्य के जीवन के आधार पर भी बनते हैं। इस प्रकार डॉ. राधाकृष्णन के दर्शन में मानव एवं उसके विकास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

ज्ञान मीमांसा–

डॉ. राधाकृष्णन ने बताया है कि ज्ञान मूलतः तीन प्रकार से होता है इन्द्रियानुभव द्वारा तर्क द्वारा एवं प्रज्ञात्मक बोध द्वारा। लेकिन उनका कहना है कि इन्द्रियों एवं तर्क की अपनी सीमाएँ हैं। उनके द्वारा हमें सत्य का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है। अन्तः प्रज्ञा के द्वारा हमें ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है जो प्रत्यक्ष या तर्क के द्वारा प्राप्त विश्लेषणात्मक ज्ञान से भिन्न एवं उत्कृष्टतर होता है।

अन्तः प्रज्ञा बौद्धिक ज्ञान से भी भिन्न है। बौद्धिक ज्ञान प्रत्यक्षों द्वारा होता है जो कि अपने आप में विचार या Abstraction है। वह सम्पूर्ण सत्य को प्रकाशित नहीं करता। बीद्धिक ज्ञान में ज्ञाता ज्ञेय का द्वैत बना रहता है, इसमें संशय, तर्क व विवाद की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। डॉ. राधाकृष्णन का कहना है कि यद्यपि अन्तः प्रज्ञा का तत्व सब मनुष्यों में विद्यमान रहता है परन्तु कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियों जैसे दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, कलाकारों, धार्मिक एवं नैतिक महापुरुषों आदि में ही प्रबुद्ध रूप से व्यक्त होता है।

धर्म एवं धर्म दर्शन–

डॉ. राधाकृष्णन की यह मान्यता है कि संसार के सब धर्म उन धर्मों के प्रवर्तकों के एक ही प्रकार के अनुभवों की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इन्हीं अनुभवों के आधार पर डॉ. राधाकृष्णन एक विश्व धर्म की स्थापना की सिफारिश करते हैं। उनका एक सार्वभौमिक धर्म में गहन विश्वास है। परन्तु यह न समझा जाय कि ये विभिन्न धर्मों को समाप्त करना चाहते हैं बल्कि वस्तुतः वे धर्मों के विश्व संघ के पक्ष में हैं जिसका आधार सभी धर्मों की सम्मान पूर्ण भावना है।

डॉ. राधाकृष्णन ने धर्मशास्त्र की रुढ़िवादी, कर्मकाण्डीय एवं काल्पनिक विधि का विरोध किया है तथा वे धार्मिक अनुभवों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने पर बल देते हैं, साथ ही उन्होंने धार्मिक, संशयवाद एवं एगनोस्टिसीजम की भी कड़ी आलोचना की है। वे कहते हैं कि विभिन्न धर्मों ने मानव को कई बुराईयाँ दी हैं परन्तु निराश होने की जरुरत नहीं, आज आवश्यकता इस बात है कि हम उस सच्ची धार्मिक चेतना को प्रकाश में लायें जो विभिन्न धर्मों, मतों एवं रीति रिवाजों के पीछे मौजूद है एवं उनका आधार है। धर्म की महानता उसकी नैतिक शिक्षा से प्रस्फुटित होती है। सच्चा धर्म तो रंग, जाति, समाज, राष्ट्र आदि की संकीर्ण सीमाओं से परे है, उसका आधार तो विश्व प्रेम की भावना होती है।

नीति दर्शन–

डॉ.राधाकृष्णन् कहते हैं कि व्यक्ति को वेदना, भय अपनी तुच्छता का अनुभव, मृत्यु का भय जीवन में मौजूद विसंगतियों की चेतना आदि उसे प्रमुख रुप से धार्मिक और नैतिक दिशा में प्रेरित करते हैं। वे कहते है कि जीवात्मा का शुभ कर्मों के द्वारा कई जन्म में विकास होता है। कर्म सिद्धान्त के सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं। कि व्यक्ति की वर्तमान स्थिति उसके अतीत के कर्मों का फल है। व्यक्ति जिस प्रकार के कर्म करता है उन्हीं से उसके शरीर और परिवेश का निर्धारण होता है जैसे कर्म होगें वैसे ही आगे का जीवन होगा। लेकिन उनका कर्म सिद्धान्त इच्छा स्वातंर्त्य के विरुद्ध नहीं बल्कि उसे साथ लेकर चलता है। हम अपने वर्तमान कर्मों में शुभता लाकर जो हमारी इच्छा के अधीन है, भविष्य के जीवन का निर्धारण कर सकते हैं। जैसी जिसकी भावना होती है वैसे उसके उद्देश्य होते हैं जैसे उद्देश्य होते हैं वैसे ही उसका कर्म होते हैं, वैसे ही वह फल प्राप्त करता है।

डॉ. राधाकृष्णन का कर्म सिद्धान्त में विश्वास ही पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आधार है। वे मानते हैं कि आत्मा का अगले जन्म में शरीर – विशेष को प्राप्त करना पूर्व जन्म अर्जित कर्म–फलों के अनुसार होता है। पूर्व जन्म के बारे में डॉ. राधाकृष्णन के विचार परम्परागत हिन्दू सिद्धान्तों के अनुसार ही हैं। वे कहते हैं कि आत्मा अपने स्वभाव के अनुकूल शरीर का चुनाव करती है आत्मा अनादि है उसमें नैरन्तर्य है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त नैतिक संस्कारों की शृंखला को बनाये रखता है।

सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शन–

डॉ0 राधाकृष्णन् का सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शन मानवताबादी है। वे एक ऐसे समाज एवं राज्य के निर्माण में विश्वास रखते थे जिसमें मानव आदर्शों को विकसित होने का पूर्ण अवसर मिल सके। समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व, न्याय आदि उच्च आदर्शों को अपना उद्देश्य मानकर उन्हे व्यवहार मे लागू करने के लिए सतत् प्रयत्नशील समाज व राज्य को वे सर्वोत्तम् मानते हैं। वे लोकतंत्र को राज्य श्रेष्ठ रूप मानते हैं क्योंकि ऐसी शासन व्यवस्था की मानवीय आदर्शों में पूर्ण आस्था है। व्यक्ति स्वातंत्र के समर्थन होने के कारण उन्होने एकतंत्रवाद का विरोध किया है तथा इसी कारण से उन्होने साम्यवाद की भी आलोचना की है। एक सच्चे प्रजातंत्र में व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए जो आदर्श वातावरण होता है, वह व्यक्तित्व के विकास, बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए बहुत आवश्क है। यह लोकतंत्र में ही सम्भव है। वे कहते हैं कि It is essential to liberate not only our bodies from starvations but also ouir minds from slavery. डॉ0 राधाकृष्णन् ने प्रजातंत्र को एक नैतिक सिद्वान्त माना है, जिसमें सभी व्यक्ति एक अन्तः मूल्य रखते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. एस.राधाकृष्णन्–ईस्ट एण्ड वेस्ट : सम रीकलैक्शन का हिन्दी अनुवाद
2. पाल आर्थर–द फिलॉसफी ऑफ एस.राधाकृष्णन् (लाइब्रेरी ऑफ लीवींग फिलासर्फस) के अन्तर्गत स्वयं डॉ.एस.राधाकृष्णन् के उद्वार फ्रैगमैट्स ऑफ कन्फैक्शन
3. डॉ. संगम लाल पाण्डेयः समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियों, सम्पादक डा0 लक्ष्मी सक्सेना–समकालीन भारतीय दर्शन
4. अण्डरबुक ए.सी. कन्टेम्पोरेरी थॉट इण्डिया 1935
5. डॉ. एस. राधाकृष्णन तथा प्रो.जे.एस. क्योरहेड– कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी वाल्यूम–2(1952)

भारतीय संयुक्त परिवार का आण्विक परिवार में परिवर्तन

विवेक कुमार ओझा

एम०ए०, एम० फिल०, एम०एड्०

अणु पदार्थ की इकाई है और परिवार समाज की किसी चीज के अणु में पदार्थ की लाक्षणिकताएँ देखी जा सकती हैं। वैसे परिवार में समाज विद्यमान होता है। सभ्यता के विकास के प्रारम्भ में परिवार का प्रादुर्भाव बहुत निर्णायक साबित हुआ था। परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य का जन्म अन्योन्याश्रित हुआ है फ्रेडरिक एंजेल्स ने इस मुद्दे पर सबसे पहले प्रकाश डाला था। परिवार ही विस्तृत होता हुआ कुल–कुनबा कबीला बनता गया था और परिवार में पितृसत्ता ही विकसित होते–होते राज्य सत्ता और परम सत्ता (ईश्वर) बन गये थे। परिवार की समाज की नींव बना रहा। फिर आधुनिक काल शुरु हुआ और केन्द्र में आ गया व्यक्तिवाद। इससे एक तो फायदा हुआ कि हर व्यक्ति महत्वपूर्ण होता गया और इससे जनतन्त्र विकसित हुआ। दूसरे व्यक्तिवाद पनपा और समष्टि के बीच द्वन्द्व पैदा हो गया यानी यह विवाद पैदा हो गया कि. व्यक्ति का हित प्रधान है या समाज का। इससे एक राह समाजवाद की ओर गई जहां सामाजिक हित की प्रधानता थी और दूसरी राह पूंजीवाद की ओर। जिसमें व्यक्ति का हित प्रधान माना गया। पूँजीवाद का विस्तार होता गया इसलिए पूँजीवादी मूल्य आहार–व्यवहार मूल्य–मान्यताएं और संस्थाएं बढ़ती चली गई। इसी का एक परिणाम था संयुक्त परिवार का टूटना और आण्डिवक परिवार यानी पति–पत्नी और बच्चों का परिवार। इससे फायदे भी हुए हैं और नुकसान भी। संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियां प्रायः तीन पीढ़ियां एक साथ रहती थीं, जिनकी सम्पत्ति और चूल्हा एक ही इकाई माने जाते थे। व्यक्ति की, परिवार में ही सही. सामाजिकता बनी रहती थी इस व्यवस्था में बच्चे, बुजुर्ग और हर तरह से कमजोर लोग पल जाते थे। ऐसे में एकांतिक स्वार्थ पर अंकुश रहता था। परन्तु इस व्यवस्था में परिवार के पुरुष मुखिया के अलावा दूसरे के व्यक्तित्व का विकास बाधित होता था। घर में पितृसत्ता के कारण औरतों का तो प्रायः कारावास होता था, बच्चों का भी व्यक्तित्व मनोवांछित ढंग से विकसित नहीं हो पाता था। परिवार के सदस्यों का परिवार में योगदान बराबर तो होता नही था इसलिए राग–द्वेष–कलह का पनपना स्वाभाविक था।

भारतीय समाज उन्नीसवीं सदी से ही बदलने लगा था, जिसमें एक शिक्षित मध्यम वर्ग पैदा हो रहा था जो नौकरियों के लिए गांव और अपना शहर छोड़ रहा या जब डाक तार–रेल आये तो भारी पैमाने पर प्रवास शुरु हुआ। नौकरियों के चक्कर में सबसे पहले आधुनिक ढंग से शिक्षित हुए बंगाली सारे देश में फैल गये। औद्योगिकीकरण नगरीकरण और आधुनिकीकरण के बढ़ने के साथ परिवारों का विघटन शुरु हो गया। आजादी के बाद तो यह क्रम तेज हो गया आज तो यह स्थिति है कि नगरों, महानगरों में तो निश्चित ही परिवार आण्विक होते जा रहे है इस शताब्दी में तो पश्चिमी देशों की तरह भारत बहुतायत नगरों में ही रहने लगा और परिवार का मतलब पति–पत्नी और बच्चे। तक सीमित होता जा रहा है। ऐसे परिवारों की वास्तविक स्थिति पर एक नजर डालें तो स्पष्ट परिलक्षित होता है कि बढ़ती महंगाई के कारण परिवार में अधिकांशतः पति–पत्नी दोनों को नौकरी या व्यवसाय कर रहे है।

आर्थिक मजबूती न भी हो तो नारी नगरों में अधिकाधिक आत्मनिर्भर होती जा रही है। साहित्य और सिनेमा में ऐसे परिवारों का सटीक चित्रण उपलब्ध है। जिनमें शाम को थके–मांदे लौटे पति–पत्नी आपस में ठीक से संवाद नहीं कर पाते हैं और बच्चों को ठीक से समय नहीं दे पाते छुट्टी का दिन छूटे हुए कामों को पूरा करने, कमर सीधी करने और कभी–कभी औपचारिक रूप से यानी कर्तव्य निर्वाह के लिए मनोरंजन के लिए बाहर घूमने, शॉपिक या सिनेमा के लिए वक्त निकालने में बीत जाता है। ऐसे परिवारों में अधिकांशतः अजनबियत पैर फैलाने लगती है। पश्चिम में तो हल ढूंढे गए हैं। बुजुर्ग

आत्मनिर्भर होते हैं और जब मजबूर होते है तो उन्हें ओल्ड एज होम्स जैसी जगहों में डाल दिया जाता है। वहां पारिवारिक स्नेह प्रेम के अलावा सारी सुख–सुविधाएं उपलब्ध होती हैं। पर यद्यपि वहां लोगों को ऐसे जीवन की आदत पड़ती जा रही है फिर भी वहां बूढ़े पारिवारिक स्नेह के लिए तरसते दिखाई देते हैं बच्चे कैश और होस्टल जैसी संस्थाओं में पलते बढ़ते हैं या फिर धनी परिवारों में आया या परिचारक उन्हें पालते हैं और वे परायेपन के शिकार बच्चे ड्रग्स के शिकार हो जाते हैं। यह विडम्बना नहीं तो क्या है कि सारी दुनिया की पुलिसिंग पर आमादा अमरीकी सरकार अपने समाज पर ड्रग माफियाओं के घातक दुष्प्रभाव से लड़कर उसे समाप्त नहीं कर पा रहा है। ऐसा नहीं है कि इस चूहा दौड़ के शिकार बच्चे और बुजुर्ग ही हैं। युवा और वयस्क दम्पत्ति भी बढ़ते अवसाद से ग्रस्त हैं। अवसाद यहां तक कि विवाह संस्था ही विघटित होती जा रही है और **लिव–इन सम्बन्ध** का जोर बढ़ रहा है।

भारत में भी यह सब शुरु हो चुका है। इसकी आदत पड़ने में लोगों को समय लगेगा। इस संक्रमण काल में जब वैकल्पिक संस्थाएँ और व्यवस्था विकसित नहीं हैं सभी प्रभावित इकाईयों की स्थिति खराब है। बूढे न घर के हैं न घाट के भारत के पितृसत्ता ग्रस्त बुजुर्ग अपनी असहायता पर बेबस होते जा रहे हैं। आण्विक परिवार में उनकी जगह बची नहीं तो फिर वे जायं कहा? जो बुजुर्गों के बढ़ रहे शरणस्थलों में जाने की हैसियत रखते वे इसके लिए तैयार नहीं है घर में रोज–रोज अपमानित होना उन्हें स्वीकार है पर घर के बाहर आरामदायक विकल्प भी उन्हें अपमानित करता है।

अगर पति–पत्नी दोनों काम करते हैं तो बच्चों का विकास बुरी तरह प्रभावित होता है, क्योंकि कितना भी कीमती विकल्प जुटाया जाय माँ–बाप के क्या स्नेहयुक्त सानिध्य का क्या कोई विकल्प हो सकता है? क्या इस तरह आण्विक परिवार से सम्बद्ध हर इकाई की पीड़ा और उनके बीच की दूरी बढ़ती जा रही है भारतीय समाज इतना प्रबुद्ध और परिपक्व नहीं है और अभी नई चुनौतियों के सामने वह पूरी तरह तैयार नहीं है इसलिए उसकी मुश्किलें और अधिक पीड़ादायी है तो क्या इसका कोई विकल्प है? कोई विकल्प नहीं है, क्योंकि यह आधुनिक पूंजीवादी जीवनशैली का अनिवार्य अंग है। इसमें किसी एक एक अंग को बदला नहीं जा सकता, क्योंकि सभी एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसका जो सबसे बेहतर विकल्प है वह है कम्यून का जीवन यानी सामुदायिक जीवन इसमें व्यक्ति और परिवार की अस्मिता और वैयक्तिकताएँ बरकरार रखते हुए दैनिक जीवन की आवश्यकताएं सामुदायिक रूप से पूरी की जा सकती है। फिलहाल ऐसा समाजवादी समाज में सम्भव नहीं हो सका। ऐसा एक आदर्श समाज में ही सम्भव है जो अभी कहीं नहीं उपलब्ध है।

ऐसी स्थिति में इस संक्रमण काल में उपलब्ध स्थितियों–परिस्थितियों को ही बेहतर बनाने का विकल्प है। इसके लिए समाज के देशकाल द्वारा प्रस्तुत यथार्थ को समझना होगा और एक जनतान्त्रिक और संवेदनशील माहौल बनाने के लिए सबको वैयक्तिक और सामुदायिक संघर्ष करते रहना होगा। मुख्य जिम्मेदारी समझदारों की होती है, जो जितना समझदार उसकी उतनी ही जिम्मेदारी अगर यह जिम्मेदारी निभायी नहीं गयी तो आण्विक परिवर्तन भी टूटेंगे और फिर आण्विक विस्फोट की तरह यह विघटन भी विध्वसंक हो सकता है।

संदर्भ सूची :

1. शर्मा, पद्मपति (2009) खेल पत्रकारिता प्रकाशन, दिल्ली, पृ0–20
2. चन्द्रापुरी, आर0 एल0 : भारत में ब्राह्मण राज्य और पिछड़ा वर्ग आन्दोलन मिशन प्रकाशन पटना 1996, पृ0– 85
3. रावत – भारतीय समाज
4. गुलाटी, लीला– चाइल्ड लेवर इन केरला (क्वायर इण्डस्ट्रीज) सेन्टर फॉर डेवलपमेन्ट स्टडीज, त्रिवेन्द्रम, 1980
5. सोतिया, सुबास वृद्ध महिलाएं : अनेक चुनौतियां, समाज कल्याण अक्टूबर 2007, पृ0– 10
6. Hoshino, Shinya, 1982 keeping them apart of the Industrialized world : social welare, 19 (1) PP 11&12

उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों के सामाजिक आर्थिक स्थिति, शैक्षिक उपलब्धि और समायोजन का अध्ययन

अभिषेख कुमार पाण्डेय

सहायक आचार्य

किंग्वे टेक्निकल इंस्टिट्यूट (बी०एड० कालेज), कुल्हरिया, कैमूर, बिहार

सार तत्व

प्रस्तुत शोध उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों के सामाजिक आर्थिक स्थिति, शैक्षिक उपलब्धि तथा शैक्षिक समायोजन पर आधारित है। प्रस्तुत शोध पत्र में वाराणसी जिले के उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की शैक्षिक उपलब्धि तथा शैक्षिक समायोजन पर सामाजिक आर्थिक स्थिति के प्रभाव का अध्ययन करने प्रयास किया गया है। जिसमे शोध के न्यादर्श का चुनाव उद्देश्यपूर्ण विधि द्वारा किया गया। न्यादर्श के रूप में 10 यू०पी० बोर्ड के विद्यालयों के 50 विद्यार्थियों को चुना गया। प्रस्तुत शोध में शोध विधि के रूप में वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है। आंकडों के एकत्रिकण के लिए शोधकर्ता द्वारा शैक्षिक उपलब्धि के लिये विद्यार्थियों के वार्षिक प्रतिफल, एच०एस० अस्थाना द्वारा निर्मित शैक्षिक समायोजन मापनी, बी०के०सिंह सुप्रीति सुमन तथा सावित्री शर्मा द्वारा निर्मित सामाजिक आर्थिक स्थिति मापनी का प्रयोग किया गया है। ऑकडो के विश्लेषण के लिए एनोवा परीक्षण का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत शोध मे उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की शैक्षिक उपलब्धि तथा शैक्षिक समायोजन पर सामाजिक आर्थिक स्थिति के प्रभावात्मक अंतर पाया गया हैं।

प्रस्तावनाः

साधारणतः निम्न सामाजिक–आर्थिक स्तर के समूह के बालक अपने शहर या कस्बे को नया व्यवसाय प्राप्त करने के लिये छोड़ना पसन्द नहीं करते हो। इसके पीछे मूल कारण है परिवार की स्थिति एवं उस बालक की प्राप्त शिक्षा व उस शिक्षा की अहमियत। अच्छे परिवार के अर्थात सामाजिक–आर्थिक स्तर से युक्त परिवार के बालकों में अच्छी आदतें एवं परम्पराएँ स्वतः ही उत्पन्न होने लगती है। वे व्यवहार कुशल, सद्भावनापूर्ण, उच्च शैक्षिक उपलब्धि के धनी, सहकारिता, सुसमायोजन की भावनाओं से परिपूर्ण होते है। लेकिन यदि परिवार की परिस्थिति इसके विपरीत हों तो उनमें अनेक दोष, जैसे– कुसमायोजन, दुश्चिंता, बुरी आदतों का आविर्भाव, आत्मसंबोध में कमी, निर्णय लेने में असमर्थता आदि उत्पन्न होने लगते हो। इसका सीधा प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पड़ता है, जिससे बालक अपने मुख्य पथ से हटकर अलग ही राह का राहगीर बन जाता है(झाझडिया, 2015)।

शोध समस्याः

- उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों के सामाजिक–आर्थिक प्रस्थिति में तुलनात्मक रुप से क्या अंतर है?
- उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों के शैक्षिक समायोजन क्षमता में तुलनात्मक रुप से क्या अंतर है?
- उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों के शैक्षिक उपलब्धि में तुलनात्मक रुप से क्या अंतर है?

शोध शीर्षकः

" उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों के सामाजिक आर्थिक स्थिति, शैक्षिक उपलब्धि और समायोजन का अध्ययन।"

शोध के चरः

प्रस्तुत शोध में स्वतंत्र चर के अंतर्गत सामाजिक आर्थिक स्थिति तथा परतंत्र चर के अंतर्गत शैक्षिक उपलब्धि और शैक्षिक समायोजन क्षमता निर्धारित किया गया है।

पारिभाषिक शब्दावलीः

सामाजिक आर्थिक प्रस्थितिः सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति दो प्रस्थिति जो क्रमशः सामाजिक और आर्थिक स्थिति का समन्वय है। जो व्यक्ति जिस समाज में रहता है उसमे उसकी सामाजिक सांस्कृतिक तथा भौतिक स्थिति यथा आय जाति, समाज में सम्मान, शक्ति व प्रभाव आदि के आधार पर उसे एक विशेष संस्थिति प्रदान करती है। सामाजिक आर्थिक स्थिति के अंर्तगत विद्यार्थियों की लिंग, जाति, आवास, विद्यार्थियों की विषय आते हैं।

उच्च–प्राथमिक **विद्यालयः** उच्च–प्राथमिक विद्यालय से तात्पर्य ग्रामीण व शहरी क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय जिसमे कक्षा 6 से 8 तक की पढाई होती है।

विद्यार्थीः विद्यार्थी से तात्पर्य जनपद के ग्रामीण व शहरी क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत कक्षा 8वीं के सभी विद्यार्थी से हैं।

शैक्षिक उपलब्धिः शैक्षिक उपलब्धि से तात्पर्य कक्षा 8वीं के वे सभी विद्यार्थी जिनका क्रमशः कक्षा 7वीं के वार्षिक परीक्षा के मूल्यांकन से प्राप्त प्रतिशत में परिणाम से है।

शैक्षिक समायोजनः– शैक्षिक समायोजन से तात्पर्य विद्यार्थियों के विद्यालयी, कक्षागत् शिक्षा से सम्बन्धित समायोजन से हैं।

शोध के उद्देश्यः

प्रस्तुत शोध हेतु निम्नलिखित उद्देश्यों का निर्माण किया गया है।

1. ग्रामीण क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की शैक्षिक उपलब्धि का तुलनात्मक अध्ययन करना।
2. शहरी क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करना।
3. ग्रामीण क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की शैक्षिक समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना।

शून्य परिकल्पनाः

शोध परिकल्पना के अंर्तगत निम्न शून्य परिकल्पना परिकल्पित होती है।

1. **शून्य परिकल्पनाः** ग्रामीण क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की शैक्षिक उपलब्धि का तुलनात्मक सार्थक अंतर नहीं है।
2. **शून्य परिकल्पनाः** शहरी क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति का तुलनात्मक सार्थक अंतर नहीं है।
3. **शून्य परिकल्पनाः** ग्रामीण क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों कीशैक्षिक समायोजन का तुलनात्मक सार्थक अंतर नहीं है।

शोध सीमांकनः

प्रस्तुत शोध में शोधकर्ता ने अपने शोध को समय, धन एवं श्रम शक्ति तथा महत्व को ध्यान में रखते हुये शोघ अध्ययन को निम्न प्रकार से सीमांकित करने का प्रयास किया है।

- उत्तर प्रदेश के केवल वाराणसी जनपद में स्थित ग्रामीण व शहरी क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय के अध्ययनरत 10वीं में छात्र और छात्राओं तक ही सीमित किया गया है।
- माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों की सामाजिक–आर्थिक प्रस्थिति तक सीमित किया गया है।

- माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि तक सीमित किया गया है।
- माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक समायोजन तक सीमित किया गया है।

शोध विधिः प्रस्तुत शोध हेतु वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का उपयोग किया गया हैं।

शोध जनसंख्या प्रस्तुत शोध अध्ययन में जनसंख्या के अंतर्गत वाराणसी जनपद के ग्रामीण व शहरी क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय में कक्षा 10 के छात्र और छात्राओं को जनसंख्या के रूप में लिया गया है।

शोध न्यादर्शः शोधकर्ता ने न्यादर्श के अंतर्गत वाराणसी जनपद ग्रामीण व शहरी क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय में कक्षा 10 से 180 विद्यार्थियों का चयन किया हैं।

शोध अध्ययन में प्रयुक्त उपकरणः

- प्रस्तुत शोध के अंतर्गत स्वतंत्र चर के रूप में शहरी क्षेत्र में सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति के मापन के लिए डॉ बी०के०सिंह और सुप्रीति सुमन तथा ग्रामीण क्षेत्र सामाजिक–आर्थिक प्रस्थिति के मापन के लिए डॉ बी०के०सिंह और साबित्री शर्मा द्वारा मानकीकृत सामाजिक–आर्थिक प्रस्थिति मापनी का प्रयोग किया गया है।
- प्रस्तुत शोध अध्ययन के अंतर्गत परतंत्र चर के रूप में ग्रामीण एवं शहरी माध्यमिक विद्यालयों के छात्र–छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि ज्ञात करने के लिए 9वीं कक्षा के वार्षिक परीक्षा के प्रतिफल का प्रतिशत लिया गया है।
- प्रस्तुत शोध अध्ययन के अंतर्गत परतंत्र चर के रूप में ग्रामीण एवं शहरी माध्यमिक विद्यालयों के छात्र–छात्राओं की समायोजन क्षमता ज्ञात करने के लिए प्राफेसर एच०एस०अस्थाना द्वारा मानकीकृत शैक्षिक समायोजन मापनी का प्रयोग किया गया है।

शोध अध्ययन हेतु प्रयुक्त सांख्यिकीय विधिः

- शोधकर्ता द्वारा वर्तमान अध्ययन के उद्देंश्यों को पूरा करने के लिये माध्य, प्रमाणिक विचलन, मध्यमान की सार्थकता की जॉच हेतु एनोवा परीक्षण का प्रयोग किया गया।
- प्रस्तुत शोध में एनोवा परीक्षण की गणना के लिये सार्थकता स्तर की जॉच हेतु विश्वास स्तर 0. 05 का प्रयोग किया गया है।

प्रदत्तों का विश्लेषण, प्रदत्तों का व्याख्याः

उद्देश्यवार प्रदत्तों का संकलन, विश्लेषण व व्याख्या एस०पी०एस०एस० सांख्यिकीय प्रणाली द्वारा मध्यमान की सार्थकता विधि से निम्नलिखित सारणियों की सहायता से प्रस्तुत किया गया हैः–

1. शून्य परिकल्पनाः ग्रामीण क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों कीशैक्षिक उपलब्धि का तुलनात्मक सार्थक अंतर नहीं है।

विश्लेषणः

श्रोतः शैक्षिक उपलब्धि	एफ मान	मुक्तांश मान	सार्थकता	मध्यमान अंतर
वित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय	55.554	89	.000	77.74389
स्ववित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय				

व्याख्याः

प्राप्त क्रातिक मान 55.554 द्वारा यह स्पष्ट होता है कि ग्रामीण क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों कीशैक्षिक उपलब्धि में तुलनात्मक अंतर है। अर्थात शून्य परिकल्पना अस्वीकृत होती है।

2. शून्य परिकल्पनाः शहरी क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों कीसामाजिक आर्थिक प्रस्थिति का तुलनात्मक सार्थक अंतर नहीं है।

विश्लेषणः

श्रोतः सामाजिक आर्थिक स्थिति	एफ मान	मुक्तांश मान	सार्थकता	मध्यमान अंतर
वित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय	44.072	89	.000	60.789
स्ववित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय				

व्याख्याः

प्राप्त क्रातिक मान 44.072 द्वारा यह स्पष्ट होता है कि शहरी क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों कीसामाजिक आर्थिक प्रस्थिति का तुलनात्मक में तुलनात्मक सार्थक अंतर है। अर्थात शून्य परिकल्पना अस्वीकृत होती है।

3. शून्य परिकल्पनाः ग्रामीण क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की शैक्षिक समायोजन का तुलनात्मक सार्थक अंतर नहीं है।

विश्लेषणः

श्रोतः सामाजिक आर्थिक स्थिति	एफ मान	मुक्तांश मान	सार्थकता	मध्यमान अंतर
वित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय	61.775	89	.000	98.867
स्ववित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय				

व्याख्याः

प्राप्त क्रातिक मान 61.775 द्वारा यह स्पष्ट होता है कि ग्रामीण क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की शैक्षिक समायोजन का तुलनात्मक सार्थक अंतर है। अर्थात शून्य परिकल्पना अस्वीकृत होती है।

शोध निष्कर्षः

उद्देश्य के अंतर्गतः–

- ग्रामीण क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की शैक्षिक उपलब्धि का तुलनात्मक सार्थक अंतर है।
- शहरी क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति का तुलनात्मक सार्थक अंतर है।
- ग्रामीण क्षेत्र के वित्तपोषित और स्ववित्तपोषित उच्च–प्राथमिक विद्यालय के बालकों की शैक्षिक समायोजन का तुलनात्मक सार्थक अंतर है।

शैक्षिक निहितार्थः

- आज के समय का सबसे महत्वपूर्ण कारक परिवार की आर्थिक आय है। जों विद्यार्थियों के शैक्षिक उपलब्धि तथा साथ में उनके शैक्षिक समायोजन क्षमता को प्रभावित करती है। अतः कोई भी विद्यार्थी तभी शिक्षा प्राप्त कर सकता है जब तक कि उसकी मूलभूत जैविक आवश्यकतायें पूरी हो ना जाये। अतः शैक्षिक संस्थानो को ऐसे विद्यार्थियों को चिन्हित कर आर्थिक क्षति पूर्ति हेतु वजीफा प्रदान करे ताकि प्रत्येक विद्यार्थी को समावेशी शिक्षा प्राप्त हो सके और वे विद्यालय में पुर्णतया समायोजित हो सके।
- विद्यार्थियों के शैक्षिक उपलब्धि तथा शैक्षिक समायोजन क्षमता को उत्कृट बनाने हेतु अध्यापको के साथ साथ अभिभावकगण भी अपने बच्चों के आत्मविश्वास को बढ़ाने मे सहयोग प्रदान कर सके।
- उच्च–प्राथमिक शिक्षा संस्थानों में दक्ष और योग्य शिक्षकों की नियुक्ति किया जाय। जिससे विद्यार्थियों की सामाजिक आर्थिक स्थिति, शैक्षिक समायोजन तथा शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक सहसम्बन्ध बना रहे।

भावी शोध हेतु सुझावः

शोधकर्ता द्वारा भावी शोध हेतु सूझाव निम्न बिन्दुओं द्वारा प्रस्तुत किया गया।

- प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को शोधकर्ता ने वाराणसी जनपद के ग्रामीण और शहरी क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालय के विद्यार्थियों पर शोधकार्य किया है। भविष्य में इससे सम्बन्धित अन्य शोध कार्य मण्डल या राज्य स्तर पर किया जाय सकता है। जिससे और आंतरिक परिणाम प्राप्त कर सके।
- प्रस्तुत शोध अध्ययन में माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों को सम्मिलित किया गया हैं। भविष्य में उच्च शैक्षिक स्तर के विद्यार्थियों पर भी शोध कार्य किया जा सकता हैं।

संदर्भः

1. अरोणा, पंकज (जनवरी, 2015). किशोरावस्था– किसकी जिम्मेदारी?. **भारतीय आधूनिक शिक्षा**, वर्ष 35(3), पेज संख्या 32।
2. काशीनाथ, एच०एम० (2003). एड्जस्टमेंट कम्पोनेंट ऑफ स्टूडेंट्स स्टडींग इन जवाहर नवोदय विद्यालय, ए कलस्टर एनालिसिस. **जनरल ऑफ कम्यूनिटी गाइडेन्स एण्ड रिसर्च,** पृ० 295–304।
3. कुमार, संदीप (2016). उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के समायोजन तथा तर्कक्षमता का एक अध्ययन. **शैक्षिक परिसंवाद**, **ऐन इंट्रोडक्सन ऑफ एजुकेशन**, 6(2) पेज संख्या 57–66।
4. कुमार, रोहित (2019). माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत ग्रामीण एवं शहरी विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धियों का तुलनात्मक अध्ययन. **एजुकेशन फार आल**, ए०पी०एच० पब्लिकेशन, 9(1) पेज संख्या 307।
5. चित्रलेखा, कुमार मनोज (जनवरी,2015). विद्यालयी स्तर पर विद्यार्थियों की बढ़ती हुयी व्यवहारगत समस्यायें– एक गम्भीर चुनौती. **भारतीय आधूनिक शिक्षा**, वर्ष 35(3), पेज संख्या 18–32।
6. जैन, रितेश (2015). अनुसुचित जनजाति के बच्चों के शैक्षिक उपलब्धि पर पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का अध्ययन. **अध्यापक सारथी**, 4(3) पेज संख्या 65।
7. दूबे, पंकज कुमार(अप्रैल, 2015). वर्तमान शिक्षा के संदर्भ में सम्पूर्ण क्रान्ति. **अध्यापक सारथी**, 12(1) पेज संख्या 122।
8. टी0एम0 न्यूकॉम (1997). पर्सनालिटी एण्ड सोशल चेन्ज, न्यूयार्क, ड्राई एण्ड प्रेस।
9. टी0डब्ल्यू0 एडोर्ने, एम0 फैंकल, ब्रन्सेविक, डी0जे0 लेविनसन एण्ड आर0एन0 सेनफोर्ड (1950). **द ऑरीटेरियन पर्सनालिटी**. न्यूयार्क, हॉपर।
10. टी0एस0 एप्सटीन (1974). सोशल चेन्ज एज रिफ्लैक्टिड इन विपेज एण्ड अरबन स्ट्डीज. **ए सर्वे ऑफ रिसर्च इन सोशियोलॉजी एण्ड सोशल एन्थ्रोपोलॉजी**, (1), पृष्ठ 285–286।

11. डब्ल्यू0ई0 मूरे (1968). सोशल चेन्ज. **इन इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल सांइसिज**, जे0एल0 सिल्स, न्यूयार्क, मैकमिलन प्रेस, पृष्ठ 366।
12. डब्ल्यू0एच0, ब्रवोल्ड (1973). बिलीफ एण्ड बिहेवियरल. **एड्जिस्टमिनेन्ट ऑफ एटीट्यूड**, यू०एस0ए0 जरनल ऑफ सोशल साइकोलॉजी, पृष्ठ० 285–28।
13. पाण्डेय, श्रीनिवास (2013). वैदिक काल में शिक्षक अवधारणा एवं जबाबदेही. **अध्यापक सारथी**, वाल्युम 2 संख्या 112।
14. पाण्डेय, अभिषेख कुमार(2019). **ग्रामीण क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों की सामाजिक आर्थिक स्थिति और शैक्षिक उपलब्धि का तुलनात्मक अध्ययन.** अन्वेषण; ए मल्टिडिसिप्लिनरी जर्नल इन हिंदी, 3(1), पेज संख्या 34–40.
15. पाण्डेय, अभिषेख कुमार (2019). **वित्तपोषित व स्ववित्तपोषित माध्यमिक विद्यालय के छात्र और छात्राओं के समायोजन क्षमता का तुलनात्मक अध्ययन.** शोध इन्टरनेशनल; ए मल्टिडिसिप्लिनरी जर्नल इन हिंदी, 4(1), पे.सं. 36–44.
16. पाण्डेय, अभिषेख कुमार (2019). **ग्रामीण क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों की सामाजिक आर्थिक स्थिति और शैक्षिक उपलब्धि का तुलनात्मक अध्ययन.** अन्वेषण; ए मल्टिडिसिप्लिनरी जर्नल इन हिंदी, 3(1), पेज संख्या 34–40.

हिन्दी कहानी की भाषा तथा बदलता स्वरूप

डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय
प्रधान सम्पादक
''शोध'' (रिसर्च जर्नल)

(क) कथ्य

''पिछले वर्षों में जीवन की गति अनपेक्षित रूप से बढ़ी और परिणामस्वरूप बहुत कुछ बदला। इस बदलाव को चीजों के साथ के, आदमी के साथ के, समय के साथ के, हमारे बदलते हुए सम्बन्धों में देखा जा सकता है। बड़ी इकाइयाँ छोटी इकाइयों में बँटती चली गयीं– कभी जोड़ने वाले सूत्र के निर्जीव हो जाने से, कभी दरारें पड़ने से तो कभी उतनी बड़ी इकाइयों को सँभालना असम्भव हो जाने से। एक तरफ तो समूची दुनिया आदमी की पहुँच के दायरे में आती गयी और दूसरी तरफ आदमी अपने दायरे में सिमटता गया। विज्ञान की नयी स्थापनाओं के साथ यथार्थ सापेक्ष हो गया, नतीजतन जटिलतर होते उस जटिल यथार्थ को जीते–जागते मनुष्य के उलझे अनुभव के रूप में खोजने और पाने का प्रयत्न हिन्दी कहानी में भी कई वर्षों से हो रहा है। इसको लेकर ढेरों आंदोलन तथा बहसें चलती रही हैं।''

डॉ. पुष्पपाल सिंह इस आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। उनकी स्वीकारोक्ति है कि ''समकालीन कहानी का यथार्थ आज अत्यन्त विस्तृत और विविधवर्णी है। जीवन की कोई समस्या और क्षेत्र नहीं छूटा है, जहाँ रचनाकार की दृष्टि नहीं गयी है। सामाजिक प्रतिबद्धता सामान्य मानव की पक्षधरता तथा इस पक्षधरता से प्रेरित होकर जिन्दगी के विभिन्न मुहानों पर लड़ी जा रही उसकी लड़ाई में सहभागिता आज कहानीकार के कथ्य के प्रमुख सरोकार हैं।''

स्पष्ट है कि समकालीन रचनाकारों ने परम्परागत यथार्थ को अस्वीकृत किया तथा अतियथार्थवादी दृष्टि को अपनाया है। अतः यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि अतियथार्थवाद क्या है? वस्तुतः ''यथार्थवाद तथा प्रकृतवाद की भाँति ही अतियथार्थ का जन्म भी फ्रांस में हुआ। इसे प्रथम महायुद्ध की विभीषिका–जनित निराशा का परिणाम माना जा सकता है। अतियथार्थवाद, यथार्थवाद का ही एक अतिवादी रूप है। जिस प्रकार यथार्थ की चरम अभिव्यक्ति प्रकृतवाद से हुई, उसी तरह प्रकृतवाद की चरम परिणति है–अतियथार्थ। निराशा एवं तद्जनित कुंठाओं की विविधरूपिणी अभिव्यक्ति ही इस प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक आधार है। फ्रायड के अवचेतन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया था कि जनसामान्य की अधिकांश इच्छाएँ अनेक आर्थिक एवं सामाजिक कारणवश पूरी नहीं होतींय फलतः वे अचेतन मन में पहुँचकर व्यक्ति के व्यवहार में विकृति एवं असामान्यता उत्पन्न कर देती हैं।'' अतियथार्थवादी कहानीकार इन्हीं विकृतियों एवं विद्रूपताओं का प्रकाशन अपनी कहानियों के माध्यम से करता है। स्पष्ट है कि वह सामाजिक या सांस्कृतिक मूल्यों में विश्वास नहीं रखता, ईश्वर पर भी उसकी आस्था नहीं। असंतुलन और असंगतियाँ, वीप्सा और नग्नताएँ ही उसकी कला की मेरुदण्ड हैं। परिणामतः अतियथार्थवादी कहानीकार अपने साहित्य को मानव–जीवन के विकृत एवं घिनौने चित्रों की प्रदर्शनी बना देता है।

कथाकार जयनंदन भी स्वीकार करते हैं कि, ''कथा साहित्य के सरोकार समय की चुनौतियों और संक्रमणों से ही तय होते हैं। समय तेजी से बदल रहा है, तदनुरूप कहानियों को भी ढलना और बदलना जरूरी है। मोबाइल, एस.एम.एस., ई–मेल, चौटिंग और खबरों के लाइव प्रसारण का यह युग निश्चित रूप से प्रेमचन्द के युग से काफी अलग हो गया है। कई बार ऐसा लगता है कि मानवीय संवेदना के उत्स और दुख–सुख के कारण भी परिवर्तित हो गये हैं। प्रेमचन्द को जो चीजें विचलित करके कहानी के विषय में ढल जाती थीं। अब वे चीजें समकालीन लेखकों के मर्म को उद्वेलित नहीं कर

पातीं। इधर कई वर्षों से खालिस गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी पर केन्द्रित कोई कहानी नहीं आयी। जबकि ये तीन पहलू ही सारी समस्याओं की जड़ हैं। देश का ज्यों–ज्यों जी. डी. पी. बढ़ रहा है, गरीब और गरीब हो रहे हैं तथा सारे उद्योगपतियों की आय में दो सौ से चार सौ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी है।'' अर्थात् अमीरी और गरीबी के बीच की खाईं निरन्तर चौड़ी होती जा रही है। आज का तथाकथित नागरिक इन स्थितियों को देखकर विचलित नहीं होता है। उसकी तो स्पष्ट धारणा है कि, ''देश अमीरों से चलता है, चूँकि वे टैक्स देते हैं और देश के लिए कपड़ा, लोहा, तेल, गैस आदि का उत्पादन करते हैं। गरीब आदमी देश पर बोझ है, वह देश को देता कुछ नहीं, सिर्फ लेता ही लेता है। स्पष्ट है कि मोबाइल और ई–मेल वाली आज की नयी नस्लें दया, प्रेम और करुणा जैसी अनुभूतियों को बेमानी समझने लगी हैं। वे अब रिटायर हो गये बूढ़े माँ–बाप को छोड़कर विदेश में बस जाने को कोई समस्या नहीं मानते।'' तो यह है तथा–कथित समकालीन सजग नागरिक की सोच, जो पूर्णतः आत्म केन्द्रित है। आज के साहित्य में इन बदलते सन्दर्भों की छायाएँ साफ–साफ उभरकर आने लगी हैं। आधुनिक कथाकारों के कथा–साहित्य में इन छायाओं का चित्रण अतियथार्थवादी शैली में हुआ है। उदाहरणार्थ उदय प्रकाश की चर्चित कहानी 'दिल्ली की दीवार' का यह अंश देखा जा सकता है, जिसमें महिला सशक्तीकरण के इस दौर में शहरी महिलाओं की स्थिति का यथातथ्य निरूपण किया गया है, ''सोलहवीं सदी के उसी खण्डहर में राजवती की बहन फूलों, आजादपुर सब्जीमण्डी के निकास फाटक पर मूँगफली बेचने वाले जगराज की पत्नी सोमाली और लालकिले के आस–पास चरस बेंचने वाले मुश्ताक की फुफेरी बहन सलीमन, जो अब उसकी पत्नी भी थी, रहती थीं। वे तीनों धन्धा करती थीं। सोमाली तो खण्डहर में ही रहकर, वहाँ अक्सर आ जाने वाले स्मैकिए– तिलक, भूसन और आजाद के लाए हुए ग्राहकों को निपटाती थी लेकिन सलीमन और फूलो शाम को रिक्शा लेकर सड़क पर ग्राहकों की खोज में घूमती थीं। फूलो कभी–कभी 'पार्टी' में भी रात–रात भर के लिए बाहर जाया करती थी।''

मुंशी प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' की स्त्री–पात्र बुधिया के समानधर्मा चरित्र वाली फुलिया, उदय प्रकाश की कहानी 'हीरालाल का भूत' की प्रमुख स्त्री–पात्र है। ब्राह्मण विरोधी कथाकार के रूप में कुख्यात उदय प्रकाश इस कहानी में एक ठाकुर को खलनायक की भूमिका में खड़ा करके तथा हीरा और फुलिया जैसे दलित चरित्रों की सृष्टि करके एक साथ अनेक आरोपों से मुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं– ''तो घटना यह थी कि उस दिन हीरालाल शाम को ही ठाकुर साहब के घर का सौदा–सामान लेने बाजार चला गया था। दोपहर के बरतन जूठे पड़े थे, इसलिए उन्हें माँजने और बाकी काम निपटाने फुलिया वहाँ आयी हुई थी। शाम सात बजे होंगे कि ठाकुर साहब ने फुलिया को आवाज देकर बुलाया और उसे कागज तथा बहीखाता देकर कहा कि इसे वह पटवारी को दे आये। शायद ठाकुर और पटवारी में पहले ही बात–चीत हो चुकी थी। फुलिया कमरे में पहुँची तो पटवारी ने उसे पकड़ लिया, साँकल भीतर से चढ़ा ली, रेडियो की आवाज खूब ऊँची कर दी और इस तरह हीरालाल की सम्पत्ति का आखिरी कोना, उसकी औरत की आबरू भी जाती रही। आधे घंटे बाद ठाकुर हरपाल सिंह भी उस कमरे में आ गये और फुलिया पटवारी के पलंग पर सिसकती रही। बाद में फुलिया को दोनों ने पाँच–पाँच रुपये दिये।''

''समकालीन कहानी का सार्थक लेखन मानवीय चरित्र तथा स्थितियों की जटिलता को प्रत्यक्ष करता हुआ, जीवन को एक अर्थवत्ता प्रदान करने का प्रयत्न करता है। कहानी की सफलता का मानक यही है कि वह प्रामाणिक रूप से जिन्दगी के बहुआयामी यथार्थ को चित्रित करती हुई, उसे बेहतर बनाने की कोशिश बन सके। जिन्दगी के चरित्र और स्थितियों के चित्रण में ही यह कोशिश दिखायी देनी चाहिए। अतिरिक्त रूप से किसी वाद या विचारधारा से प्रतिबद्ध होकर धर्मोपदेशक या राजनीतिक नेता की शैली में सिद्धान्तों के अनुरूप जीवन को श्रेष्ठतर बनाने का उपदेश कहानीकार (या अन्य किसी भी विधा का रचनाकार) नहीं करता है। मानवीय चरित्र और स्थितियों का जिस लेखकीय दृष्टि में सर्जनात्मक स्तर पर चित्रण होता है, वही दृष्टि जीवन को नयी दृष्टि से देखने का उपक्रम बन जाती है। आज कहानीकार इसी दृष्टि से कथा–रचना में संलग्न है।'' आज के कहानीकार भी इसी दृष्टि के अनुकर्त्ता हैं। अपनी पुस्तक 'अपनी उनकी बात' में उदयप्रकाश लिखते हैं कि, ''हर कलाकार अपने समय के परिचित यथार्थ के भीतर से ही अपने पात्रों की खोज करता है। अपनी रचना में वह उन्हीं पात्रों को रूपान्तरित करके एक वृहत्तर मानवीय अर्थवत्ता देता है। आप संसार की किसी भी भाषा के किसी भी साहित्य को उठाकर देखिए, सब में यह सच मिलेगा।''

आज की हिन्दी कहानी की भाषा अत्यन्त प्रभावी अभिव्यंजना की नयी–नयी भंगिमाओं से लैस और अत्यन्त समृद्ध है। यह कथन अपने आप में अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा समकालीन आलोचना भाषा में 'फतवेबाजी' लग सकता है कि हिन्दी–गद्य की सम्पूर्ण क्षमताओं का पूर्ण विकास कहानी–भाषा में ही प्राप्त होता है। अँगरेजी–गद्य की जिस कथ्यात्मक क्षमता का बखान करते हम अघाते नहीं, वैसी अपूर्व कथ्यात्मक क्षमता हिन्दी की कहानी विधा में ही प्राप्त होती है। इस भाषा ने कहानी के कथ्य के अनुरूप अपने मिजाज को पूरी तरह बदला है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाकर चलने वाली 'वैष्णवी' और 'शाकाहारी' दृष्टि को पूर्णतः नकारकर एक पूर्ण उन्मुक्त आकाशीभाव मिलता हैय जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से अभिव्यक्ति को शब्द और बिम्ब प्रदान करती है। हिन्दी कहानी की इस खुली दृष्टि का सर्वप्रमुख कारण यह है कि भाषा अनुभव को व्यक्त कर देने मात्र का साधन भर नहीं है, अपितु वह सर्जनात्मक प्रक्रिया का स्वयं एक अंग है। इसीलिए उसे बहुत दूर तक कथ्य से नहीं अलगाया जा सकता।

यदि हिन्दी कहानी की भाषा को साठ के दशक से पूर्व की भाषा से मिलाकर देखें तो यह सहज ही स्पष्ट हो जायेगा कि आज कहानी–भाषा विकास के कितने सोपानों को प्राप्तकर आगे बढ़ आयी है। आज वह जिस रूप में मानव–मन के रोयें–रेशे को पूरी तरह उघाड़कर अत्यन्त सूक्ष्म और तलस्पर्शी रूप में अभिव्यक्ति कर सकती है, वह उसकी बहुत बड़ी और गौरवपूर्ण उपलब्धि है। आज किसी भी नये–से–नये अच्छे कथाकार की कोई सार्थक रचना उठा लीजिए, उसकी अभिव्यक्ति की ताजगी और टटकापन सहज ही बाँधता है।

वस्तुतः भाषा कथ्य के अनुरूप ही स्वरूप ग्रहण करती है और वह सर्जनात्मक प्रक्रिया का एक अविभाज्य अंग है। हिन्दी कहानी ने जिस जीवन–यथार्थ को अपना कथ्य बनाया या यथार्थ के जिस रूप की अभिव्यक्ति से अपने को प्रतिबद्ध कियाय कहानी भाषा भी उसी मार्ग की अनुगामिनी बनी। यथार्थ से रू–ब–रू होती कहानी की भाषा में रोमानी, काल्पनिकता का ऐंद्रजालिक रूप और उससे अनुस्यूत उपमान, बिम्ब, प्रतीक–विधान या अतिशय भावुकतापूर्ण आग्रह अब समाप्तप्राय हैं। आज कहानी की भाषा अपनी सरलता, सहजता और अनगढ़ता में ही नयी अर्थ–छवियाँ भरती है। जिस प्रकार कहानी आज जीवन के अत्यधिक निकट है, उसी प्रकार कहानी–भाषा भी जीवन की निकटता में ही अपना साहित्यिक आभिजात्य स्थापित कर सकी है। इसीलिए कहानी–भाषा में आज एक विशेष जीवनधर्मी गंध अनुभूत होती है। यहाँ यह स्पष्ट करना अधिक विषयांतर नहीं है कि हिन्दी कहानी की समीक्षा–भाषा को भी कहानी–भाषा के अनुरूप ही अपने को रूपान्तरित और विकसित करना श्रेयष्कर होगा। यद्यपि भाषा–विकास और समृद्धि में 'इति' जैसी स्थिति नहीं हो सकती, किन्तु हमें यह मानने में किंचित् भी संकोच नहीं है कि हिन्दी कहानी ने बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के तीन दशकों में गद्य की शक्ति का चरम अथवा अपूर्व विकास किया है। यह समस्त भाषिक प्रयोगों की गौरवपूर्ण उपलब्धि है। यदि हम अपने इस कथन को समकालीन हिन्दी कहानी के गौरवपूर्ण स्तंभों और चर्चित कहानीकारों की कहानी–भाषा के परिप्रेक्ष्य में विवेचित करने का प्रयास करें तो इसकी सत्यता सहज ही प्रमाणित हो जायेगी।

कहानी की भाषा के सम्बन्ध में उदयप्रकाश की मान्यता है कि, ''हर अच्छी कहानी के हर वाक्य में उस समूची कहानी की रूपरेखा और सम्भावना पहले से ही मौजूद रहती है। हर अच्छी कहानी अपनी समग्रता में एक सम्पूर्ण वाक्य बनाती है और इसी वाक्य के निर्माण के लिए कथाकार कहानी के विन्यास में असंख्य अन्य वाक्यों का इस्तेमाल करता है। इन समस्त वाक्यों का अपना अलग अस्तित्व, संरचना और अर्थ होते हुए भी, उस महावाक्य (अर्थात् कहानी) से पृथक् अपनी कोई अस्मिता नहीं होती। ये असंख्य वाक्य उसी एक महावाक्य के लिए अपने स्वतंत्र अस्तित्व को उत्सर्जित करते हैं। इसीलिए जब उत्तर संरचनावादी आलोचक यह कहते हैं कि कोई भी भाषिक कला अपनी समग्रता में वस्तुतः एक वाक्य होती हैय तो वह गलत नहीं है। यानी सीधी–सी बात यह कि जितना महत्त्वपूर्ण कहानी का कथ्य, उसका सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक पक्ष होता है, उससे कम महत्त्वपूर्ण उसका भाषिक विन्यास नहीं होता, जिसकी हिन्दी कहानी और कथा आलोचना में निरन्तर अवहेलना हुई है। ज्यादातर हिन्दी आलोचना तो दुर्दांत वाक्य–विन्यासों का दयनीय कबाड़खाना ही है।''

प्रख्यात एवं प्रखर कथा–आलोचक बलराम भी रचना में भाषा की महत्ता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने कृतिकार की तुलना बढ़ई से की है। उन्हीं के शब्दों में, ''एक अच्छी कहानी की रचना के लिए भाषा, शिल्प और कथ्य पर समान रूप से ध्यान देना जरूरी हैय क्योंकि अंततः कृति किसी बढ़ई के अच्छे या बुरे निर्माण–सी ही तो है। इस सम्बन्ध में नोबेल पुरस्कार विजेता कथाकार गैब्रियल गारसे मारकेस की वह बात याद आ रही है, जो उन्होंने 'द पेरिस रिव्यू' के लिए साक्षात्कार देते हुए पीटर एच. स्टोन से कही थी– 'साहित्य बढ़ईगीरी के अलावा और क्या है... कुछ लिखना मेज बनाने जैसा ही मुश्किल काम है। दोनों में ही आप यथार्थ का सामना करते हैं। दोनों में ही ट्रिक है और तकनीक भी।' मारकेस की इस लेखकीय बढ़ईगीरी के एक औजार 'भाषा' के सन्दर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा का यह कथन कितना सटीक है–'भाषा तो लेखक का बसूला है। जो लेखक सही ढंग से बसूला चलाना नहीं जानता, वह अच्छी मेज कैसे बना सकता है।''

भाषा बनावटी भी नहीं होनी चाहिएय क्योंकि ''बनावटी भाषा से आयाम नहीं खुलते, अर्थों की धक्का परेड होती है। वह भाषा थिगली की तरह चिपकायी हुई लगती है। मेरी समझ से किसी भी लेखक की निजता और पहचान में भाषा मुख्य रोल अदा करती हैय भाषा तो आयाम खोलती चलती है। और सन्दर्भ चाहे भाषा का हो या कथ्य का, वह जनसंपर्क से ही उपलब्ध होता है। एक लेखक की हैसियत से उस भाषा और कथ्य को सिर्फ संस्कार देने का काम लेखक को करना पड़ता है और जो लेखक ऐसा नहीं करते लेखकीय धर्म से च्युत होकर रचना को हल्की कर डालते हैं और उनकी रचनाओं से जनमानस में कोई खास प्रतिक्रिया नहीं होती।''

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि आधुनिक कथाकार भाषा के प्रति अत्यन्त सजग है। उसके सत्प्रयासों से ''शिल्प के साथ–साथ समकालीन कहानी में भाषा को भी एक नई तराश और गद्य की नई लय प्राप्त हुई। गद्य–भाषा की सहजता में जीवन–धर्मी गंध लिये कितनी अर्थ–क्षमता हो सकती है, वर्तमान कहानी इसका प्रमाण है। प्रयोग में आ रहे शब्दों को गद्य की लय के अनुसार अर्थ–संगति देने के सुन्दर प्रयास ने भाषा को अपूर्व शक्तिमत्ता प्रदान की है। समकालीन कहानीकार भाषा प्रयोग के प्रति अत्यन्त सजग और सचेत है। समग्रतः समकालीन हिन्दी कहानी आज साहित्य की सर्वाधिक सशक्त और समादृत विधा है। कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से उसने नूतन आयाम छुए हैं।''

(ख) भाषा

वर्तमान सदी में कहानी, हिन्दी साहित्य की प्रमुख विधा बन गयी है, क्योंकि आज इस विधा के अन्तर्गत जनता के वैयक्तिक एवं सामूहिक, दोनों परिवेशगत पहलुओं एवं घटनाओं को रचनाकारों द्वारा उजागर किया जा रहा है। इस समय कहानी में मनुष्य के यथार्थ–जीवन का अंकन दृष्टिगोचर हो रहा है। अधिकतर रचनाकार भुक्तभोगी हैं जिसके कारण उनकी कहानियों में जीवन्तता दिखाई देती है। आज के कहानीकारों की रचना में आम जनता का शोषण, बलात्कार, जीवन संघर्ष, अपनी अस्मिता को तलाशने वाले मनुष्य की व्यथा जैसी विविध घटनाओं को अपनी रचना का विषय बनाया है। साथ ही इस समय की कहानियों की भाषा में आक्रोश, व्यंग्यात्मकता, करुणा का स्वर, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, प्रतीक और बिम्बात्मकता आदि आती है। शिल्प की दृष्टि से देखें तो ये कहानियाँ वर्णनात्मक, मिथकीय, व्यंग्यात्मक और फैन्टेसी मूलक भी होती हैं। डॉ. नीरज शर्मा लिखते हैं– ''इस दौर के कहानीकारों ने भ्रष्टाचार, प्रशासन, पुलिस, आतंकवाद, राजनीतिक स्थितियों, गाँवों, कस्बों, नगरों, महानगरों का विसंगतिपूर्ण जीवन, आम आदमी का संघर्ष, साम्प्रदायिक द्वेष, जातिगत भेदभाव, वर्गगत विषमता जैसे अनेकानेक सामाजिक समस्याओं को उजागर करने का प्रयास किया। इसके लिए वे स्पष्ट भाषा को आधार बनाते हैं। स्पष्ट एवं खुलेपन की दृष्टि के चलते ही उसने भाषा को प्रायः सहज रखने की कोशिश की, जिसके फलस्वरूप वह स्वाभाविक बोलचाल की भाषा से जुड़ता गया। प्रादेशिक शब्दों, ग्रामीण शब्दों, गीतों आदि का प्रयोग इसी का परिणाम है।'' इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान सदी के मानवीय सम्बन्धों में हो रही संवेदनाओं, संघर्षों आदि को उजागर करने के लिए रचनाकार सहज भाषा का प्रयोग करने में जुटे हैं।

भाषा मानव के लिए भावाभिव्यक्ति का प्रमुख औजार है। साहित्य में स्पष्ट, सरल या सहज और सशक्त भाषा का प्रयोग पाठकों को प्रभावित करता है। अपनी रचनाओं को प्रभावित करने के लिए रचनाकार कहानियों में बिम्बों, लोकोक्तियों, कहावत, मुहावरों, रूपकों और लोकजीवन के गान आदि का

सहारा लेते हैं। भाषा के सम्बन्ध में डॉ. नीरज शर्मा का कथन है– ''विविधता एवं व्यापकता से युक्त इस दौर की कहानियों की भाषा अर्थक्षमता से परिपूर्ण है। इसकी खास विशेषता सम्प्रेषणीयता है। अर्थात् वह सहज संप्रेष्य है। इस दौर में कहानी की भाषा में कहानी का कथ्य तथा कहानीकार की संवेदना में अलगाव नहीं। शायद इसी कारण वैविध्यपूर्ण जटिल, गम्भीर तथा बहुआयामी कथ्य भी सशक्त रूप में प्रस्तुत होता है।'' आज के दौर की कहानियाँ भाषा की दृष्टि से पाठकां को प्रभावित करने वाली हैं। इक्कीसवीं सदी के कहानीकारों ने आम आदमी की भाषा को अपनी रचनाओं में प्रमुखता दी है। जनसाधारण की भाषा में उनके सुख–दुःख, संघर्ष, आक्रोश, संत्रास, व्यंग्यात्मकता आदि की भरमार होती है। इस दौर की कहानियों में कहानीकार जन साधारण की बोलचाल की भाषा का प्रयोग करके साधारण जन जीवन को पाठकों के सम्मुख प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

शब्द योजना में नवाचार

वर्तमान सदी की हिन्दी कहानियों में अंग्रेजी और अरबी शब्दों का प्रयोग, आंचलिक और आदिवासी शब्दावली का प्रचुर प्रयोग हुआ है। भाषा का अध्ययन करते समय इन शब्दों पर अध्ययन करना समीचीन है। इस दौर की कहानियों में अंग्रेजी शब्दों का बोलबाला है। स्वयं प्रकाश की कहानी 'कहाँ जाओगे बाबा' में पवरकट, गैस एजेंसी, शॉपिंग सेन्टर, फैक्टरी, फर्टिलाइजर कम्पनी, कान्स्ट्रक्शन, कूलर, एयरकंडीशनर, रिटायर, गैसरिलीस आदि बहुत सारे अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार कैलाश बनवासी की कहानी 'एक गाँव फुलझर' में भी लाइसेंस, आर्डर, इम्पोर्टेड, वर्कर, प्राइवेटाइजेशन जैसे अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग देखा जा सकता है। इस दौर की कहानियों में अरबी शब्दों के प्रयोग का नवाचार हुआ। कैलाश बनवासी की कहानी 'बाजार में रामधन' में इत्मीनान, दलाली, वाजिब, मुताबिक और 'एक गाँव फुलझर' में मशगूल, इफारत, हुकुम, आलीशान, तहलका आदि शब्दों का प्रयोग देखा जा सकता है। नये दौर की कहानियों में फारसी के शब्दों को इस्तेमाल धड़ल्ले से हो रहा है। स्वयं प्रकाश की कहानी 'कहाँ जाओगे बाबा' नामक कहानी में हरगिज, तख्ती, जल्दबाजी, दरवाजा और कैलाश बनवासी की कहानी 'बाजार में रामधन' में रौं, गुमान, निगरानी जैसे शब्दों का प्रयोग बखूबी हुआ है।

वर्तमान सदी की कहानियों में जमीदारों, पूँजीपतियों या कुटिल राजनीतिज्ञों, भ्रष्ट न्याय व्यवस्था और भ्रष्ट कर्मचारियों द्वारा आम जनता के साथ शोषण एवं दुख–दर्द की वजह से लोगों में अपने अस्तित्व के प्रति चेतना जागृत होकर अन्याय के खिलाफ आक्रोश शुरू होते हैं। मोहनदास नैमिशराय की कहानी 'अपना गाँव' में ठाकुर कबूतरी के साथ जुल्म करता है और सम्पत इस जुल्म के खिलाफ अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहता है– ''संपत आक्रोश के मारे उबल पड़ा, 'भइया, ठाकुर की पहूँच चीफ मिनिस्टर तक हो या प्राइम मिनिस्टर तक। हम पर जुल्म हुआ है और उसकी रिपोर्ट पुलिस में लिखना जरूरी है।'' कहानी में सम्पत जुल्म के खिलाफ अपने आक्रोश भरी भाषा का प्रयोग करते हैं। रणेन्द्र की कहानी 'रात बाकी' में सरकार द्वारा आदिवासियों की भूमि अधिग्रहण करके बाँध बनवाने की प्रवृत्ति के खिलाफ आदिवासी लोग अपना आक्रोश इस तरह व्यक्त करते हैं– ''अब ई बाँध बन्द, काम बन्द। एसे कैसे चलेगा भाई। ई जोर जबरदस्ती है। प्रशासन हाथ पर हाथ रखकर थोड़े बैठ रहेगा।'' इसी प्रकार संजीव की कहानी 'अपराध' में सचिन भ्रष्ट न्याय व्यवस्था पर अपना आक्रोश व्यक्त करता है– ''मुझे इस पूँजीवादी, प्रतिक्रियावादी, न्याय–व्यवस्था में विश्वास नहीं है। आम जनता भी जिसे न्याय का मन्दिर कहती है, वह लुटेरों पण्डों और जूताचोरों से भरा पड़ा है।'' इस प्रकार आज कहानियों में अत्याचार से पीड़ित लोगों की आक्रोश भरी भाषा का प्रयोग नवाचारी कहानीकारों ने प्रयुक्त किया है।

भाषा में व्यंग्य का पुट लाने से उसकी अभिव्यक्ति सशक्त बन जाती है। व्यंग्य युक्त भाषा के माध्यम से कहानीकार अकथ्य को भी कह डालते हैं। अभिव्यक्ति के लिए व्यंग्यात्मकता एक सशक्त हथियार का काम करती है। हेमलता महिश्वर की कहानी 'कर का मनका डारी के' में परिवार परामर्श को लेकर बातचीत हो रही थी जहाँ पर लेखिका पहुँचती है और कौसर से पूछती है तो वह जवाब देता है– ''उसने मुझसे अब जाकर पूछा, दी! आप कम्फर्टेबल तो हैं ना।' ''अब मैं क्या बोलूँ? ओखली में सर खुद रखवा दिया और अब पूछ रही हो।'' मैंने भी लपककर कहा।'' कहानीकार संजीव की 'टीस' कहानी में शिबु काका नामक आदिवासी संपेरा मन्दिर के पुजारी के प्रति व्यंग्यात्मक बातें कहता है। वह कहता है– ''मन्दिर का पुजारी पंजानन भट्टाचार्य। जब वो त्रिपुट लगा के, पूजा के लिए आया, जनाना लोग को घूरता तो लगा कि गोखुर छाप वाला नाग फन फुला के घूर रहा है। मन्तर किटकिटते बखत

हम आदिवासी लोग को देखेगा तो फुफकारेगा– भागो साला लोग, जाके खीस्तान बन जाओ, इहाँ काहे आता! साब, देख लेना उसको, अगर साँप कापड़ाया (डँसा) तो साँपइ मर जाएगा, वो नहीं मरेगा।'' व्यंग्यात्मक भाषा के प्रयोग से पाठकां की रुचि कहानी को पढ़ने में बढ़ जाती है।

आज के कहानीकार अपनी कहानियां में लोकगीतों के माध्यम से अकथ्य को भी कथ्य बनाकर कहने में सफल रहे हैं। इन गीतां में लोक–जीवन की व्यथा, सुख–दुख, प्रेम आदि अन्तर्निहित होते हैं। लोक गीत लोक–जीवन की आत्मा हैं। मेहरुन्निसा परवेज की कहानी 'जंगली हिरणी' में आदिवासी लड़की लच्छो का झूम–झूम कर गाना देखें–

''बाट चो आँवा ने मंजुर सोए से, मारी रोसोना

कुम, कुम, कुम, मेछा एएसे।

लच्छो की सुरीली आवाज हवा में गूँजने लगती है। तबले पर जोर की थाप पड़ते ही उसके पैर जोर–जोर से थिरकने लगते हैं–

मेघा एउसे–मारी रोसोना

तुचो गोढ़ के कोन सुने से।।

कोन सुने से–मारी रोसोना

बलते बला सरते सरोबे।।''

'आरोहण' नामक कहानी में सजीवन पहाड़ी इलाकां में गाये जाने वाले लोकगीतों की ओर इशाना किया है–

''ऊँची–नीची झाँड़ियों मा,

हे कुहेड़ी ना लाग तूँऽऽऽ!''

इस गीत में जीवन और मृत्यु से परे एक अमूर्त लोक की परिकल्पना की गयी है–

''ऊँची–नीची झाँड़ियों मा

हे हिलाँस ना बस तूँऽऽऽ!''

'रफीक भाई को समझाइए' शीर्षक कहानी में रणेन्द्र के एक शोक–संवेदना से भरे लोकगीत को देखें–

''इक गदाए–राह को नाहक न छोड़

जा फकीरों से मजाक अच्छा नहीं।''

अस्तु, लोकगीतां ने लोकजीवन से जुड़ी संवेदनाओं को स्वर प्रदान किया है। जिसे पढ़कर अथवा सुनकर मन विह्वल हो जाता है।

मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ

नये दौर की कहानियों में मुहावरे एवं लोकोक्तियों की भरमार है। इन लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग से पाठक कहानी को पढ़कर लोकजीवन की गहराई में उतर जाते हैं। संजीव, उदय प्रकाश, ओमप्रकाश वाल्मीकी, मोहनदास नैमिशराय जैसे कहानीकारों ने अपनी कहानियां में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग करके अपना रचना का अर्थवान एवं संश्लिष्ठ बनाते हैं।

कैलाश बनवासी ने अपनी कहानी 'बाजार में रामधन' में रूखा सूखा, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी, सिर तो जैसे भूत सवार है36 जैसे लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग किया है। 'साहूकार की मछली' कहानी में कोमल ने मूर्ख बनाने के लिए 'उल्लू बनाना' मुहावरे का प्रयोग किया है। ऐसी न जाने कितनी नवाचारी कहानियाँ हैं जिनमें मुहावरे एवं लोकोक्तियों का नमूना हम देख सकते हैं। इन मुहावरे एवं लोकोक्तियों से रचनाकार अकथ्य को भी कथ्य का रूप दे देते हैं।

प्रतीकात्मकता

नये दौर की कहानियों में अपने शीर्षकों में और कहानी के विस्तार में प्रतीकात्मकता को लेकर भाषा को संश्लिष्ट एवं अर्थवान बनाकर उन्हें समयानुकूल बना दिया है। ये कहानीकारों अपनी कहानी के शीर्षक में प्रतीकात्मकता का प्रयोग करते हैं। यथा– ओमप्रकाश वाल्मीकी की 'घुसपैठिए', जयप्रकाश कर्दम की 'नो बार', श्योराज सिंह बेचौन की 'अस्थियों की अक्षर', प्रहलादचन्द्र दास की 'लटकी हुई शर्त', संजीव की 'ऑपरेशन जोनाकी', 'टीस', वाल्टर भेंगरा तरुण की 'काला पानी', केदारप्रसाद मीणा की 'अवत–अवतड़ी' आदि कहानियों के शीर्षक प्रतीकात्मक हैं। इन प्रतीकात्मकता शीर्षकों के अर्थ नये प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं। नये कहानीकार अपनी कहानी का विस्तार भी प्रतीकों के सहारे करते हैं। संजीवन की कहानी 'टीस' में प्रतीकों के साथ कथा का विस्तार होते हुए देखा जा सकता है– ''रोड पर जा रहा है एक नम्बर का अजगर मुखिया पिनाकी महता। जितना सरकारी पैसा और सामान गाँव के लिए मिलता है, सब साला के पेट में जाता। पीछे–पीछे जा रहा है 'उसका' लड़की पत्तो। ढेमना (धामिन) है ढेमना। बड़ा–बड़ा बी.डी.ओ., एस.डी.ओ, कोलरो मैनेजर, ठीकेदार का पा (पैर) बाँध के दूध पी जाता। कपड़ा और मूदीखाना का दुकान वाला सेठ लोग राजस्थान का पीवणा नाग है, सुबेदार रामबली राय गंगा के किनारे का चित्ती (करैत) है तो मुनीम जगेसर सिन्हा 'बोड़ा' साँप है। सूद का विष धीरे–धीरे असर और मुनीम के गोलमाल का जहर छौ मास बाद (संपरों के अनुसार करैत का विष धीरे–धीरे तेजी पकड़ता है और बोड़ा यानी बहरा साँप का छह महीने बाद) चन्द्र बोड़ा, जल बोड़ा, धूल बोड़ा– कितना सरकार बोड़ा गाँ (गाँव) में घूमता। उड़ीसा का शंखचूड़ नाग देखना है तो उड़िया फारेस्ट अफसर 'दास' को देख लो।''28 उपर्युक्त उद्धरण में कहानीकार ने गाँव की स्थिति एवं गरीबी में भी जनता का खून चूसने वाले लोगों को उजागर किया है। विभिन्न प्रकार के विषैले साँपों को प्रतीक रूप में लेकर उनके चरित्र का उद्घाटन किया है। स्पष्ट है कि प्रतीक के माध्यम से कहानीकार कथा विस्तार के साथ ही अर्थ विस्तार भी करते हैं।

(ग) बिम्ब

भाषा में यथार्थ का चित्रात्मक प्रस्तुतिकरण बिम्ब कहलाता है। नये दौर के कहानीकार मानव मन की आन्तरिक एवं बाह्य सौन्दर्य को उद्घाटित करने के लिए या ऐसा कहें कि उनके सुख–दुख जैसे मनोभावों को स्पष्ट करने के लिए बिम्बों का प्रयोग करते हैं। इसके साथ ही रचनाकार परिस्थिति, परिवेश या किसी वस्तु के चित्रण के लिए भी बिम्बों का प्रयोग करते हैं।

'कयामत के दिन उर्फ कब्र से बाहर' शीर्षक कहानी में जया जादवानी बचपन के बिम्ब उकेरते हुए लिखते हैं– ''बहुत साल पहले मेरा बचपन मरा नहीं था, मेरे दोनों भाई इसी तरह सीटियाँ बजाते हुए फुटबाल खेलने अपनी–अपनी साइकिलों पर घर से निकला करते थे। उनके पीछे उसी तरह भागने को लालायित मैं जब उसी तरह घर से सीटी बजाते हुए निकलती तो वे बड़ी क्रूरता से पीडे लौटते, दोनों तरफ से मेरी दोनों बाँहों को पकड़कर घसीटकर अन्दर कमरे में ले जाते और बाहर कर दरवाजा बन्द कर देते।'' नव उपनिवेशवाद का यथार्थ चित्रण करते हुए कहानीकार राजकुमार गौतम अपनी कहानी 'कब्र' में लिखते हैं– ''सपने जो बाजार के शो–केसों में दमकते रहते हैं रू कुछ इलेक्ट्रानिक्स सामान, कुछ नकदी, कुछ पुरुषत्व और भोग... बस।'' बिम्बों के माध्यम से शहरों का चित्रण करते हुए स्वयं प्रकाश अपनी कहानी 'कहाँ जाओगे बाबा में' लिखते हैं– ''आटोरिक्शा बाईं तरफ मुड़ गया। उस रास्ते में फैक्टरियाँ ही फैक्टरियाँ थी, इतने कारखाने, इतने बोर्ड, इतने होर्डिंग, सड़क पर इतने वाहन, इतना शोर इतना प्रदूषण, इतना विकास की आत्मा की सारी प्रफुल्लता ट्रक के पहिये के नीचे आ गये किसी नाजुक फूल की तरह कुचल गई।'' स्वयं प्रकाश की उपर्युक्त कहानी में बिम्बों का प्रयोग रात और सुबह के लिए किया गया है। इस प्रकार कहानीकार बिम्बों के माध्यम से गरीबों की पीड़ा, संत्रास आदि का चित्रण करता है।

स्पष्ट है कि आज के नये कहानीकारों ने अभिव्यक्ति के लिए युगीन भाषा का प्रयोग किया है जो आम जनमानस की संवेदना, सुख–दुःख, पीड़ा–संत्रास आदि अनुभूतियों का सम्प्रेषण सार्थक और संश्लिष्ट तरीके से करते हैं।

(घ) शैली

नये युग की हिन्दी कहानियाँ सांस्कृतिक दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन ला रही हैं। इनमें टूटते जीवन मूल्य, राजनीतिक परिवर्तन, उपभोक्ता संस्कृति का प्रभाव, भ्रष्टाचार आदि को विस्तार दे देखा जा सकता है। नवाचारी कहानियों में आम जनमानस की संवेदना की अभिव्यक्ति भी देखी जा सकती है। परिवर्तित होते जीवन परिवेश और मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए कहानीकारों ने कहानी के शिल्प में भी परिवर्तन किया है। कहानी शिल्प की व्याख्या करते हुए डॉ. नीरज शर्मा लिखते हैं– ''शिल्प का तात्पर्य है– बुनावटध्बनावट। वस्तुतः किसी वस्तु या रचना के निर्माण में जो पद्धतिध्प्रक्रिया अपनाई जाती है, उसे ही शिल्प कहते हैं।''44 स्पष्ट है कि नये दौर की कहानियों में कहानीकारों ने नयी प्रविधि या प्रक्रिया को अपनाया है। रचनाकार अपनी रचना के समय जिस विधि का प्रयोग करता है उसकी कलात्मकता को शिल्प कहा जाता है।

1. वर्णनात्मकता

कहानीकार की रचना में वर्णनात्मकता होने पर उसमे प्रामाणिकता, स्पष्टता एवं यथार्थ का प्रवाह तीव्र होता है। 'मैंगोसिल' शीर्षक कहानी में उदय प्रकाश गलियों का वर्णन करते हुए लिखते हैं– ''जहाँगीरपुरी में एक–दूसरे के साथ सटकर खड़े बेसंध मकानों की पांत के बीच से संकरी सड़कें या गलियाँ निकली हुई हैं। मुश्किल से ग्यारह–बाहर फुट चौड़ी। कहीं–कहीं तो यह चौड़ाई छह–आठ फुट से अधिक नहीं है। वहाँ आप सिर्फ पैदल या फिर साइकिल से इधर–उधर टकराने से बचते हुए घुस सकते हैं। गर्मियों में यहाँ रहे वाले इन्हीं सँकरी गलियों में बाहर खाट डालकर सोते हैं, क्यांकि राजधानी की नगरपालिका बिजली और पानी की सबसे ज्यादा कटौती ऐसी ही बस्तियों में किया करती है। अफवाहें, यौन, दंगे, जादू–टोना, अपराध और बीमारियाँ सबसे ज्यादा ऐसी ही बस्तियों में फैलती हैं। इन गलियों में पानी की निकासी के लिए जो नालियाँ बनायी गई हैं, वे ऊपर से खुली हैं।'' वर्णनात्मक शैली का प्रयोग करने से पाठकों पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

'प्रायश्चित्त' नामक कहानी में डॉ. मंजु ज्योत्स्ना आदिवासियों की शादी–ब्याह का वर्णन करते हुए लिखती हैं– ''हफते भर हंगामा। ये जाति कू गोड़इत हैं। शादी में खर्च ही कितना! हल्दी रंग की साड़ी वह भी लाल पाड़ की कोरी साड़ी को हल्दी में रंग दिया, रेशमी लाल चूड़ी और सिन्दूर, दुल्हे की हल्दी से रंगी धोती और गुलाबी रंग के रंगी कमीज! न दान, न दहेज। आम की पत्तियों का छाजन, जिसके चार खम्भे जिनमें बँधे हैं लाउडस्पीकर और हरेक में अलग–अलग फिल्मी गीत बड़ी तेज आवाज में बज रहे हैं। यह उनके प्रगतिशील होने और सम्पन्न होने का प्रमाण था। इसके साथ ही नाच–गाना, अनवरत अथक। खुशी मनाने का निराला ढंग।''46 इस कहानी की वर्णन पद्धति बहुत ही सफल एवं प्रवाहपूर्ण है।

2. किस्सगोई पद्धति

जब किसी रचनाकार द्वारा अपनी कहानी के कहने की शैली में परिवर्तन किया जाता है तो उस प्रक्रिया को किस्सागोई कहा जाता है। कहानीकार जैसा देखता है, सोचता है उसका वर्णन वह हू–ब–हू उसी तरह करता है। रचना की यह पद्धति अधिक सहज एवं सम्प्रेषणीय होती है। 'मैंगोसिल' कहानी में उदय प्रकाश लिखते हैं– ''एक रात लगभग दो बजे शोभा की आँख अचानक खुल गई उसने देखा कि सूरी धीरे–धीरे कराह रहा है। उसके माथे पर फिर बहुत सारी पीड़ा की लकीरें थी। बार–बार बनती और मिटती हुई लकीरें। बच्चा गहरी बेचौनी से अकेला चुपचाप जूझ रहा था। दर्द को सहता हुआ। दूसरा बच्चा होता तो जोरों से रोता। शोभा ने देखा कि सूरी दोनों हाथां से बार–बार अपने सिर को पकड़ने की कोशिश कर रहा था।'' तरुण की कहानी 'कालापानी' का एक उदाहरण देखें– ''लदुरा मुंडा भी उन मजदूरों में शामिल हो गया था। उसके साथ दस साल का मांगु भी अण्डमान चला आया। यहाँ के जंगलों को देखकर माँगु बहुत खुश हुआ था। वह गिलहरियों और चिड़ियों का शिकार करने लगा था। उसका बाप लदुरा अन्य लोगां के साथ पेड़ काटने का काम करने लगा। छोटानागपुर में मजदूरी के नाम पर मात्र दो आना ही दिहाड़ी मिलती थी। यहाँ उसे चार आना हर रोज मिलने लगी।'' किस्सागोई पद्धति पाठक को आगे कहानी पढ़ने के लिए विवश कर देती है।

3. बयान शैली

बयान शैली में कहानीकार अपने अनुभव या भोगे हुए आम जनमानस की पीड़ा का रू–ब–रू प्रस्तुतिकरण करता है। किसी घटना का वर्णन जब रचनाकार करता है तो पाठक को ऐसा लगता है कि वह उस घटना का स्वयं द्रष्टा है। स्वयं प्रकाश की कहानी 'कहाँ जाओगे बाबा' से इस पद्धति का एक उदाहरण द्रष्टव्य है– ''पन्द्रह दिन होते न होते मास्टर साहब का जी उचाट हो गया। पन्द्रह दिनों में उन्होंने गोकुल नगर ही नहीं, आस–पास का पूरा इलाका अच्छी तरह घूमकर देख लिया। कहने को वहाँ सब था– स्कूल, सड़कें, गैस एजेंसी, शॉपिंग सेण्टर, अस्पताल, यातायात के साधन, मन्दिर, कम्युनिटर सेंटर... यहाँ तक कि पास ही एक शानदार स्टेडियम भी बना हुआ था।'' पाठक के मन को विचलित कर देने वाली एक ऐसी घटना का वर्णन ओम प्रकाश वाल्मीकी ने अपनी कहानी 'शवयात्रा' में किया है, द्रष्टव्य है– ''कल्लन चाहता था कि शाम होने से पहले ही दाह–संस्कार हो जाए। सलोनी के शप को देखकर सरोज बार–बार बेहोश हो रही थी। समस्या थी लकड़ियों की। दाह–संस्कार के लिए लकड़ियाँ उसके पास नहीं थीं। सुरजा और सन्तो लकड़ियों का इन्तजाम करने के लिए निकल पड़े थे। उन्होंने चमारों कू दरवाजों पर जाकर गुहार लगाई थी। लेकिन कोई भी मदद करने को तैयार नहीं था।'' बयान शैली का प्रयोग करके रचनाकार आम आदमी के पीड़ा को उसके सूक्ष्म मनोभावों के साथ प्रस्तुत करते हैं जिससे पाठक को लगता है कि वह घटना को प्रत्यक्ष देख रहा है।

मिथकीय शैली

मिथकीय परिकल्पना के विस्तार से रचनाकार की रचना अधिक संश्लिष्ट और सशक्त बन जाती है। मिथकीय शैली का प्रयोग हरिराम मीणा की कहानी 'ढाव' से देखें– ''पंडित अड़ गया यह कहता हुआ कि– या काम पैलां करतो। अब तो गऊ दान पंडित कू ई देणो पड़ेगो। या इस लिहयों के थारों बाप बैतरणी के ओल्यां दाह की दाह में ई अटक्यो पड़्यो है। अर तू जाण ले बा की काई दसा हो री है। राद्य अर लोही की नंदी है बा। बड़ा मंगरमच्छ, काचुआ, स्यांप और न जाणे किस्या किस्या जीव–जिन्यावर च्यारूं मेरे खाबा कू कोनी करे। अब तू जाणे अर थारा ये पंच–पटेल।''51 केदार प्रसाद मीणा की कहानी 'अवत–अवतड़ी' में मिथकीय प्रयोग का अवलोकन करें– ''पाँच बच्चे तो खुद के खा गई दुनिया के खा गई वो अलग और ढोर–ढंगर की तो गिनती ही नहीं, कितने खाए। फिर भी इनसे कोई काचान का पेट भरे है। काचान के भूख लगी, खाने को नहीं मिला तो क्या करते, डायन को खा गए फंद मिटा जी।''

रणेन्द्र की कहानी 'वह बस धूल थी' में मिथकीय शैली का प्रयोग द्रष्टव्य है– ''ससुर खटिया पर लदवाकर पहुँचा गये थे। धमका भी गये थे कि उसके हीरे जैसे बेटे को खा गई ई डायन! दुबारा दिखी तो उनसे बुरा कोई नहीं होगा।'' मिथकीय शैली के प्रयोग से रचनाकार की कहानी को पढ़ते हुए पाठक अधिक प्रभावित होता है।

5. फंतासी शैली

फंतासी के सम्बन्ध में डॉ. नीरज शर्मा कहते हैं– ''फैंटेसी निर्माण का सम्बन्ध सौन्दर्यानुभव से है अर्थात् जीवन अनुभव ही फैंटेसी का जन्मदाता है और अनुभव की शब्दबद्ध या चित्रित अभिव्यक्ति 'फैंटेसी है।'' नये युग का कहानीकार अपने जीवन अनुभवों को कल्पना के माध्यम से प्रस्तुत करने में सफल रहा है। फंतासी में मानव के सम्भाव्य की सर्जन शक्ति विद्यमान है। उदय प्रकाश की कहानियों से एक–दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं। कहानी 'तिरिछ' की बानगी देखें– ''उन लोगों का कहना था कि बहुत से कीड़े–मकोड़े और जीव–जन्तु रात में चन्द्रमा की रोशनी में दोबारा जी उठते हैं। चाँदनी में जो ओस और शीत होती है उसमें अमृत होता है और कई बार ऐसा देखा गया है कि जिस सांप को मरा हुआ समझकर रात में यों ही फेंक दिया जाता है, फिर वह हमेशा बदला लेने की ताक में रहता है।'' 'मैंगोसिल' का उदाहरण देखें– ''अपनी आँखें बन्द करके दिक और काल पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित करें, गहरी साँस लेकर आकाशस्थित सूर्य को अपने फेफड़ों के भीतर स्थिर करें, क्योंकि सूर्य ही दिक् और काल का समन्वित पिण्ड है। अब अपने चित्त को प्रशांत हो जाने दें। निवतमान अद्यतन का विस्मरण करें और शाश्वत महाकाल का चिन्तन करें, अद्यतन तो क्षण भंगुर है और लीला हैं अब अपने दाहिने हाथ के अंगूठे को दोनों भौंहों के बीच रखें और तर्जनी को मस्तक पर लगा दें।'' स्पष्ट है कि

फैंटेसी एक ऐसी कल्पना है जिसके आज या वर्तमान में होने की सम्भावना न हो अर्थात् यह एक अविश्वसनीय वर्णन पर आधृत है।

आत्मकथात्मक शैली

आत्मकथात्मक शैली में 'मैं' ही सब कुछ होता है अर्थात् कहानीकार कहानी में 'मैं' के माध्यम से कथा विस्तार करता है। पीटर पॉल एक्का ने अपनी कहानी 'राजकुमारों के देश में' में 'मैं' शैली को अपनाया है। यथा– ''जाने कैसे मंगलू काका मेरे जीवन में आकर रच बस गया था। औरों के लिए वह मंगल वैद्य था पर मेरे लिए शुरू से ही मंगलू काका।'' कैलाश बनवासी ने 'लोहा और आग ... और वे' में भी आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग किया है।

निबन्धात्मक शैली

निबन्धात्मक शैली में रचनाकार अपनी कथा को कई उपशीर्षकों में विभक्त कर कथा को आगे बढ़ाता है। प्रत्येक उपशीर्षक अपने अन्तर की कहानी पूर्ण अस्तित्व के साथ रूपायित होती है। अधिकांशतः लम्बी कहानियों में इस शैली का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणस्वरूप उदय प्रकाश की 'मैंगोसिल' कहानी क्रमशः 'जहांगीरपुरी की गली नंबर सात', 'शोभा भागकर लाई गई थी', 'मियानी में शोभा', 'पखेरुओं का घोंसला और अण्डे', 'अभंग', 'खुसरो दरगाह' और 'पहला जीवित बच्चा', 'एक लगातार बड़ा होता सिर' आदि उपशीर्षकों में विभाजित करके लिखी गयी है।

चित्रात्मक शैली

इस शैली में कहानीकार एक चित्र की तरह अपनी कहानी को कहता है। इस शैली में कहानी का परिवेश पाठक के मन बड़ी सरलता के साथ उतरता जाता है। प्रकृति का चित्रण करते हुए कोमल अपनी कहानी 'साहूकार की मछली' में मछली पकड़ने गये बुधुआ का चित्रण देखें– ''सूरज अब पहाड़ियों से कुछ ही हाथ ऊपर रहा होगा। हवा अब धीमे–धीमे बहने लगी थी। गोहूँ की पीली बालियाँ सूरज की पीली रोशनी में हौले–हौले डोल रही थी, मानो गेहूँ के पौधे अपनी बालियों को हिला–हिलाकर सूरज को विदा कर रहे हों।'' चित्रात्मक शैली द्वारा कहानी की सम्प्रेषणीयता बढ़ गयी है।

रिपोर्ताज शैली

इस शैली में कहानी रपट की भाँति लिखी जाती है और यह अधिक प्रभावशाली भी होती है। इस शैली में केवल कहानी ही नहीं बल्कि सब कुछ रहते हैं। संजीव ने अपनी कहानी 'अपराध' में रिपोर्ताज शैली को अपनाया है। इसी कहानी से एक बानगी द्रष्टव्य है– ''अपराध और अपराधी की प्रकृति और प्रकार, व्यक्तिगत और परिवेशगत संस्कार और उद्दीपनाएँ, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय विवेचन और विश्लेषण करने हेतु मैं एक थाने से दूसरे थाने में फाइलों में बिखरी आँकड़ों की सांख्यिकी में भटक रहा था कि एक दिन थाने के बाहर शचिन के पिता राखल बाबू ने पकड़ लिया। वे काफी बदहवास लग रहे थे। उन्होंने बताया कि... अभी–अभी शचिन को पकड़कर इसी थाने में लाया गया है।'' कहानीकार उदय प्रकाश ने भी अपनी कहानी 'तिरिछ' में इस शैली को अपनाया है।

नये दौर की हिन्दी कहानियों की भाषा एवं शिल्पगत अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि आज के कहानीकारों ने नवाचार के लिए शिल्पगत सौन्दर्य अनुभूतियों या अनुभवों के द्वारा प्राप्त किये हैं। उनकी भाषा सीधी–सादी सहज एवं सरल है और लोक जीवन और आधुनिक जीवन से जुड़ी भाषा का प्रयोग वर्णनात्मक, बयान शैली और किस्सागोई जैसी शैलियों में प्रस्तुत करके मानव जीवन को समाज के सामने प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है। इन कहानीकारों की भाषा ओजपूर्ण, अर्थवान एवं संश्लिष्ट है। उनकी युगीन भाषा में सरलता का पुट होने के कारण वह जन साधारण के पढ़ने में सुविधाजनक है। आज के कहानीकारों की भाषा अभिव्यक्ति प्रतीक, बिम्ब, मुहावरों एवं लोकोक्तियों से सम्पृक्त होने की विशेषता रखती है।

(ङ) पाठ

''आज की कहानियाँ एकात्मक स्तर की नहीं होतीं। अर्थ निष्पत्ति की दृष्टि से उनके अनेक स्तर हो सकते हैं। चूँकि पाठ–प्रक्रिया से अर्थ–निष्पत्ति का सीधा सम्बन्ध है, इसलिए कथा के इन भिन्न स्तरों

के प्रति भी हमें सचेत होना चाहिए, जहाँ अर्थ निष्पन्न होता है। मनोरंजन के लिए पढ़ना भी निश्चित रूप से एक निरर्थक क्रिया नहीं है। जो लोग सिर्फ मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं वे भी इसके अर्थ के प्रति सावधान रहते हैं, फलतः जहाँ कहानी उनका मनोरंजन नहीं कर पाती वहाँ वे उसके प्रति आलोचनात्मक रुख अख्तियार कर लेते हैं—चाहे वह आलोचनात्मक रुख एक ही पंक्ति में अभिव्यक्त हो जाये कि कहानी अच्छी नहीं है।'' प्रत्येक कहानीकार यह चाहता है कि उसकी कहानी का पाठ किसी भी स्तर पर हो रहा हो, वह अच्छी कही जाये। इसके लिए उसे कठिन परिश्रम करना होता है। एक बार में ही कहानी लिखकर प्रकाशित करा देने वाले कहानीकार कालजयी नहीं होते हैं, बल्कि कालजयी वे कहानीकार होते हैं, जो कहानी लिखते समय अपना सम्पूर्ण कला—कौशल लगा देते हैं। वस्तुतः ''कहानी की पाठ—प्रक्रिया में सजगता, आत्मनिर्णय की सक्षमता और कला—संवेदना के प्रति क्रियात्मक तत्परता की आवश्यकता होती है।''

आज के कथाकार समकालीन हिन्दी कथा—परिदृश्य में अपनी कहानियों की अन्तर्पाठीयता के कारण हमेशा चर्चा में रहते हैं। उनकी कहानियों में जो चीज सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, वह है— उसकी भाषिक विलक्षणता और उसका सघन, सतर्क, सौंदर्य—मूलक विन्यास। आज की लगभग प्रत्येक कहानी अपने आप में नये आख्यान के भाषिक विन्यास का एक नया 'मॉडल' या उदाहरण प्रस्तुत करती है। लेकिन ऐसा करते हुए वह कहानी के अन्य आयामों को खारिज नहीं करती, बल्कि गहरी अन्तर्दृष्टि, सचेत आलोचनात्मक विवेक के साथ गहरी सृजनात्मक संलग्नता और तपश्चर्या के साथ उन्हें अभिव्यक्त करने की चेष्टा करती है। वर्तमान समय की कहानियों में कथाकार का कौशल और उसकी सृजनात्मक सामर्थ्य कहानी के सम्पूर्ण होने के बाद उपलब्ध होने वाले पाठयकीय अनुभव की प्रतीक्षा नहीं करती, बल्कि कहानी के समूचे पाठ के दौरान हर पल, हर पद और हर वाक्य के साथ कथाकार की मेहनत और हिकमत दोनों का अवबोध कराती चलती है। इतनी संलग्नता, श्रम और धैर्य के साथ लिखने वाला तथा पाठ की इतनी सघन बुनावट करने वाले कथाकार समकालीन कथा—परिदृश्य में अनेक हैं।

सहायक सूची :

1. हिन्दी नवलेखन— डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी
2. कहानी नई कहानी— डॉ0 नामवर सिंह
3. साठोत्तरी हिन्दी कहानी : उपलब्धि एवं सीमाएँ— डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय
4. हिन्दी कहानी का इतिहास— डॉ0 गोपाल राय

सुदामा चरित; कवि की निर्धनता की कहानी

डॉ0 भारतेंदु कुमार पाठक
सहायक प्रोफेसर
स्नातकोत्तर, हिंदी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर–190006
जम्मू व कश्मीर

आचार्य अभिनवगुप्त के गुरु आचार्य भट्टतौत ने कहा है कि "नायकस्य कवेःश्रोतुःसमानोनु–भवस्ततः।" अर्थात् नायक कवि द्वारा गढ़ा गया होता है। श्री मद्भागवतमहापुराण में यह कथा कही गयी है, किन्तु वहाँ पर वह सजीवता नहीं आ पायी है, मात्र कथा भर है, किन्तु कवि नरोत्तमदास ने अपने जीवन को सुदामा का जीवन बना डाला हैं। निर्धनता का चित्रण देखकर ऐसा आभास होता है कि कवि स्वयं निर्धन रहा होगा। उसका पारिवारिक जीवन दुःख व कष्टों से भरा रहा होगा। सामान्यतः गाँवों में यह देखने को मिलता है कि तवाँ व कठौत फूट जाने पर उसे हाट में दे दिया जाता है और कुछ धन देकर नया लाया जाता है। तवा फूटने पर रोटी में छिद हो जाते हैं, वह खिल नहीं पाती, कच्ची ही रह जाती है। कठौत से जल रिसता रहता है। वे कहते है–

"कोदो सँवा जुरतो भरि पेट, तो चाहति न दही, दूध मिठौती
या घर से न गयो कबहूँ पिय टूटो तवा अरु फूटी कठौती।"
सीत बतीत भयो सिसियातिह।

सुदामा जी ने पत्नी से कहा–

"पाँच सुपारि तो देखि बिचारि के भेंट को चार न चावर नेरे।"

अर्थात् चार चावल भी नहीं है।

उसी प्रकार ठंड का चित्रण बड़ी चतुराई से किया है। द्वारपाल उनकी वेश–भूषा का चित्रण प्रथमतः कर लेता है, पुनः उनका नाम बताता है। यदि आरंभ में 'सुदामा' नाम बताता तो भगवान कृष्ण उठकर मिलने या स्वागत में चले जाते, तब चित्रण नहीं हो पाता।

"सीस पगा न झगा तन में प्रभु, जाने को आहि बसे केहि ग्रामा
धोति फटी–सी लटी दुपटी अरु, पाँय उपानह की नहि सामा
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक रहो चकिसौं बसुधा अभिरामा
पूछत दीन दयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा।"[1]

शीश पर पगडी नहीं है तन में वस्त्र नहीं।
दुपट्टा (गमछा) लटा हुआ है, क्योंकि सम्भवतः एक ही हो।
पग में पनही का अभाव है। देह से दुर्बल सुदामा नाम का ब्रह्मण है।

सुदामा की स्थिति का चित्रण भी कारुणिक है–

"ऐसे बेहाल विवाइन सो पग कंटक जाल लगे पुनि जोए।

हाय महा दुःख पायो सखा, तुम आयो नहि इतने दिन खोए।"[2]

भूखमरी, अकाल, अतिवृष्टि व रोग–दोष, दुःख, निर्धनता इत्यादि के चित्रण में मध्यकालीन कवि सिद्ध हस्त है। झोपडी व भवन दोनों का चित्रण यहाँ उपलब्ध है। कबीर, तुलसी, नरोत्तमदास, केशव, बिहारीलाल इत्यादि के साहित्य में निर्धनता का वर्णन उपलब्ध है, किन्तु सबसे अधिक सजीव चित्रण 'सुदामा चरित' में कवि नरोत्तमदास ने किया है।

यहाँ जीवन का यथार्थ कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस काव्य को पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि कवि भी निर्धन रहा होगा। यह काव्य एक निर्धन कवि द्वारा रचा गया है। इसे पढ़कर जनमानस यही कहता है कि वह कवि ही निर्धन था नहीं तो ऐसा चित्रण नहीं हो पाता।

संदर्भ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास– आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ–110, 38वाँ संस्करण सं०–2057 वि०– नागरी प्रचारिणी सभा काशी, वाराणसी
2. उपर्युक्त, पृष्ठ– 110

SKILL DEVELOPMENT IN HIGHER EDUCATION : TRENDS AND ISSUES

Dr. C. B. MISHRA

Assistant Professor

Abstract :-

India has the second highest population of the working age (16 – 62 years) individual in the world. The skill set of the population group plays a critical role in the growth of the century. In India, education plays a vital role to build skill based society of the 21st century. It is the quality of education that decides the quality of human resources of the country. The Intent of the present paper is to analysis and high lights the status of contemporary education with respect to skill development. The study answer these questions, Where are we on skills? What are the opportunity available to learners for skill development? And what is the way for forward.

Key words : Contemporary education, Learners, Skill based, Skill development.

I. INTRODUCTION:

India is a Country with the 2nd largest population. It is renowned for its size, diversity and complexity, whether it is geographical, socioeconomic, cultural, political or developmental. All these factors impact on every aspect of life including employment, labour force considerations, education and training. If nation is a system, education is the heart of it. Education empowers the nation. Education is an important input for the growth of the Nation. Properly planned educational can increase national gross products, cultural richness, build positive attitude towards technology, increase efficiency and effectiveness of the governance. Education opens new horizons for an individual, provides new hopes and develops new values. It strengthens competencies and develops commitment. So, every govt. is now committed to provide the facilities that are required for educating a child right from the beginning. As compared to western economies where there is a burden of an ageing population, India has a unique 20–25 years window of opportunity called the "demographic dividend." , means India has a higher proportion of working age population.

II. OBJECTIVES

The present paper is designed for following objectives:.

1. To study the present scenario of India on skills& education.
2. To examine opportunities available to learners for skill development.
3. To explain the future prospects of skill development in India.

III. OPPORTUNITIES FOR SKILL DEVELOPMENT

The current vocational education is shifting from welfare approach to a demand driven approach. The government has undertaken various efforts to strengthen its scattered VET (Vocational Education Training) delivery system under various departments and ministries, e.g. the Ministry of Human Resource Development

(MHRD), the Ministry of Labour and Employment (MOLE) through its Director General of Employment and Training (DGET), the Ministry of Urban Affairs and the Ministry of Rural Development. Opportunities available to learners for skill development are facilitated by Central & State Government & by Private sector. Government's Role in Skill Development Government gave priority to Skill development in Twelfth Five Year Plan. The government plans to set up sector skill councils to prepare standards required for training programs. The industries are also proactively taking steps to partner with the government and reduce the skill gap. The government has doubled the allocation of funds for skill development under the National Skill Development Fund (NSDF) by INR10 billion in the Union Budget 2012– 13. The total corpus of funds has been increased to INR25 billion. The various ministries have created infrastructure for skill development such as it is, polytechnics, community polytechnics, secondary schools (in association with private sector). Recently, government has passed the amendment to the existing act known as 'Apprentices (Amendment) Bill, 2014' to increase the number of skilled man power and provide industries with flexibility to hire apprentices as well as improve stipends specified to them. According to the Bill, the industry will have 2.5-10 percent of the total work force as apprentices Prime Minister Narendra Modi in June 2014 announced the creation of a first-ever separate Ministry of Skill Development and Entrepreneurship to promote entrepreneurship and skill development. MHRD governs polytechnic institutions with the current capacity of diploma level courses under various disciplines such as engineering and technology, pharmacy, architecture, applied arts and crafts and hotel management. As per AICTE Annual Report- 2011-12, total number of institutions is 3205 within take capacity of 8, 87,825. Another key initiative of MHRD is the scheme of Apprenticeship Training, which aims to provide practical experience to engineering graduates, diploma holders and students in 10+2, and make the trained candidates job ready as per industry requirements. A part from this, MHRD has also introduced vocational education from class IX onwards, provision of financial cost for engaging with industry /SSCs for assessment, certification and training 'Aajeevika' is as killing and placement initiative of Ministry of Rural Development. The aim of the scheme is to impart specific set of knowledge and skills to rural youth and make them job ready. The scheme is catering to youth without formal education. Textile is the second largest employer after agriculture in the country. The work force will increase from 33-35 million in 2008 to 60-62 million by 2022. The ministry has an Integrated Skill Development Scheme for the Textiles and Apparel Sector including Jute and Handicraft. The scheme aims to fulfill the need for skilled manpower to the textile and related sectors. The scheme aims at targeting 15 lakh people over the span of five years. The NSDC formed in 2009 under National Skill Policy, which is a public-private partnership body mandated to skill 150 of the 500 million people by 2022 and the National Skill Development Agency (NSDA), an autonomous body formed in 2013 to coordinate the government and the private sector initiatives to achieve the skilling the targets of the 12 plan and beyond has been subsumed under the Ministry of Skill Development and Entrepreneurship to give coherence to skill training efforts in the country. The figure below elucidates NSDC's targetof producing skilled workers per sector over the next ten year. Source: NSDC Some of the other key initiatives of the government are as follows • Establishment of new ITIs in underserved regions and the existing ITIs being upgraded to centers of excellence to produce multi-skilled workforce of world standards • Setting up more polytechnics in the PPP mode and 400 government polytechnics being upgraded • Expansion of vocational education from 9,500 senior secondary schools to 20,000

schools; intake capacity to increase from 1 million to 2.5 million • Establishment of 600 rural development and self employment training institutes (RUDSETI) • To set up a virtual skill development resource network linking 50,000 skill development centers (SDCs) • Skills training have been made more affordable by exempting vocational education institution from paying Private Sector's Role in Skill Development Over the years, the private sector has increased its presence in the field of vocational education in India. Unemployment and underemployment are two of the most serious development problems currently being faced by the country. The equality vocational education and training courses for the learner can solve this problem. The private sector comes into play here with its ability to match better the demand for workforce by the industry with a supply of superior skilled manpower. The private sector can contribute to supplement infrastructure, facilities, technology and pedagogy. There are several roles that the private sector plays in this domain, namely, as a consumer of skilled manpower, as a non-profit facilitator of quality knowledge or as a for-profit enterprise providing education. In the first role, the private sector would deeply benefit by training the available manpower with appropriate skills and then ultimately employ them. Corporate houses can train learners by diverse methods and in varied fields such as research and development, academic internships, on-job training, programs in line with the market demand and several collaborative programs. As a consumer, the private sector is educating learners with the right balance of academic skills, analytical skills, attitude and exposure. This approach ensures only industry demanded skills/expertise being imparted to develop a suitable talent pool. Many private sector players have also entered this space as a way of giving back to the society from which they otherwise gain immensely. These players have the requisite funds, expertise and infrastructure to invest in9 constructing an appropriate platform for vocational education and training. Many industry experts or young business leaders interact with the learners via this mode to provide a unique training package. Finally, the private sector may enter vocational education and training with a sole purpose of profit building. By constructing infrastructure facilities in terms of schools, training institutes and universities, such players provide education at a price. In a nation such as India where maximum emphasis is laid on education, there are immense opportunities and a vacant capacity to tap this sector.

IV. FUTURE PROSPECT FOR SKILL DEVELOPMENT

India, as a whole, realizes the complete seriousness and importance of possessing a skilled workforce. As highlighted above, there are several programs and schemes initiated to address this issue. However, considering the rate at which the eligible working population of India is growing, these skilling initiatives would fall short by a severe amount. India is perceived to be emerging as a service-driven economy with quality human capital as its competitive advantage. For continuing this growth in the service sector and achieve competitive advantage in manufacturing, it is imperative that the human capital asset is developed further. The future prospects give birth to a serious concern of inadequate educational facilities of the nation. Skilling has certainly seen a growing focus from government and other stakeholders and we hope it would have sustained attention from decision makers. While structurally the government has introduced a new Ministry of Skill Development and Entrepreneurship, further clarity on its operational mandate and alignment with other ministries' skilling programmes is still awaited. With amaze of schemes and training initiatives at multiple ministries, it would be imperative for the new ministry to streamline government focus and ensure efficient implementation in the right areas with optimum fund utilisation targets. With

the recent announcement of it is and DGET being aligned with the new ministry, they would also need to revamp the existing massive infrastructure to make it industry relevant. Schemes likeNational Career Services Project by DGET and National Textile Policy tar getting to create 35 million jobs are encouraging steps where effective implementation would be the key. NSDC would also need to get large training players backed by employers and industry to join the training industry as credibility and sustainable infrastructure 18 would be the key to meet its target of 150 million training by 2022. While by setting up 31 SSCs, they have laid the path for establishing training standards with employers at the fore front, ensuring financial sustainability of SSCs would be equally important. Another key government initiative--'Aajevika', which is a flag ship initiative of MoRD, also needs to align itself with training standards and focus on outcome-driven funding. Right monitoring and striving for impact-based implementation is certainly required and we hope this is taken up sooner than later. With a trained workforce of 500 million, the nation is looking at creating a fine balance between quality and quantity, which would be vital to create a credible and sustainable reform.

At an annual addition of 9.25 million per year approximately 37 million jobs are expected to be created from 2012-13 through 2016-17.

V. **CONCLUSION**

To sum up, we need to recognize that the knowledge, skills and productivity of our growing young and dynamic workforce form the backbone of our economy. To reap the benefits of such a young workforce, we need to implement the reforms in the education system and also bring forth new factors of production, namely knowledge, skills and technology which have the ability to unleash the productive frontiers of the economy in the most efficient and dynamic way. Besides, taking a leaf from the western hemisphere, India should try to become “knowledge economy” to promote inclusive growth. The three major areas to be focused to ensure that our education system is sustainable and meets global standards: Quality of Education – in terms of infrastructure, teachers, accreditation,etc. Affordability of Education–ensuring poor and deserving students are not denied of education. Ethics in Education avoiding over - commercialization of education system. It is time to bring in the changes that will give us the momentum to find a place in the global scenario. Govt. and public both should work hand-in-hand to support each other and look for the required upliftment of education. Change in the GER will not come in a year, but it can be achieved by consistent persuasion, Using of state-of-the-art infrastructure allied with ICT and a developed curricula for industry-ready candidates seems to be the dream of the country and its people, but, the possibilities of such extent need to be channelized and it is make sure that everyone do get the opportunity to be a part of such system.

REFERENCE:

1. FICCI, August 2010 “The skill development landscape in India and implementing quality skills training,” p. 4.
2. “Govtsets target to skill 500 million people by 2022”.
3. The Times of India, 10 January 2012.
4. The Times of India Group Government of India. (2014). Annual Report 2013-14. Ministry of Labour& Employment. Government of India. (2011).

5. India Budget 2013-14. Retrieved from www.indiabudget.nic.in:http://www.india-budget.nic.in/budget2013-2014/ub2013-14/eb/sbe62.pdf, accessed 18 August 2015 International Labour Organization (2011).

6. "Labour market performance and the challenges of creating employment in India,", p.7 [6] Konwar& Chakraborty (2013).

7. "Higher Education Scenario of the North-Eastern India" Paripex – Indian journal of Research, vol.-2(3),pp 78-80 Ministry of HRD (2011),

8. "Working group report on Secondary and Vocation Education (12th Five-Year Plan)" New Delhi: Government of India. Nandi Rahul (2014).

9. "India's Position in the Global Community: With Respect to Higher Education Scenario" International Journal of Educational Planning & Administration, Vol. 4(1), pp. 37-48 Planning Commission (2013),"12th Five Year Plan 2012-2017".

10. Planning Commission, Government of India, Vol.-3 "Skill Development and Training", Planning Commission website.

वर्तमान परिवेश में स्त्री–विमर्श

डॉ0 विकास कुमार

सम्पादक– 'शोध'

सिविल लाइन, तकिया रोड, रोहतास, बिहार–821115

साहित्य का मूल अर्थ हित अर्थात् साहित्य से तात्पर्य है कि साथ हित सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि साहित्य में चेतना, नवीनता, परम्परा आदि भावना निहित रहती है। साहित्य समाजोन्मुख होता है। समाज का कल्याण ही किसी देश के साहित्य का प्रधान लक्ष्य होता है। यह लक्ष्य विभिन्न रूपों विभिन्न स्तरों विभिन्न रूपों के माध्यम से होता है। साहित्य समाज चिन्तन के विविध विषयों को दिशा देते हुए विमर्श के रूप में एक महत्तर आन्दोलन प्रारम्भ करता है। हिन्दी साहित्य का फलक अत्यन्त विस्तृत है। यह विविध बोलियों, भाषाओं के रूप में रूपायित होता है। विश्व की श्रेष्ठ भाषाओं में हिन्दी साहित्य का विशिष्ट स्थान रहा है।

परिस्थितियों के अनुसार देश काल के समय के अनुसार साहित्य में परिवर्तन होता है तभी विभिन्न समय–समय पर आन्दोलन तथा विमर्श की एक धारा बही है। जिसमें साहित्य में नवीन चेतना को जन्म देता है। दलित स्त्री–विमर्श उन समस्याओं में एक है जिसका कि वर्तमान समय साहित्य में बड़े सवाल उठ खड़े हुए हैं। हिन्दी साहित्य में ''स्त्री विमर्श' एक ज्वलन्त समस्या और गम्भीर विमर्श के रूप में उपस्थित हुआ है। आज चाहे राजनीतिक क्षेत्र हो या आर्थिक अथवा सामाजिक महिला हर कहीं राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उस व्यवस्था को चुनौती दे रही है, जो उसे स्वीकार्य नहीं करती या उसके हितों को चोट पहुँचाती है, ऐसा तभी हो सकता है जब वह अपनी जगह जान ले और अपने हितों को पहचान ले।

आज भारत का महिला आन्दोलन मात्र बीस साल का है। घर के बाहर वह पहले भी निकली और लड़ी भी है देश के लिए समाज के लिए। चाहे जिस रूप में देवी या अन्य रूप में अपने लिए सड़ों पर आकर राष्ट्रीय स्तर पर 1975 का वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया था वह दुनिया भर में विभिन्न स्तरों पर महिलाओं के प्रति बरती जा रही असमानता और उसके कारणों को ध्यान में दिलाने की संयुक्त राष्ट्र की कोशिश थी स्त्री किस हद तक गुलाम व पोषित है और उसक पोषण कर रही व्यवस्थाएं बेहद सशक्त और उनके खिलाफ कितना कि 1975–1985 वर्ष तक महिला सशक्तिकरण वर्ष कर दिया गया और दुनियाभर में हर क्षेत्र में महिलाओं को समानता दिया जाए और समाज को दुनिया को उसके लायक बनाया जाए भारत जैसे देश की नारियों का आरोप लगाया जाता है कि वे स्त्री मुक्ति की पश्चिमी अवधारणाओं से ज्यादा प्रभावित हैं। इस आरोप के पीछे प्रमुख बात यह होती है कि पश्चिम की स्त्रियों को व्यक्तिगत जीवन में जो स्वाधीनता चाहिए भारत की स्त्रियों को उसकी जरूरत नहीं है। इससे भी आगे जो स्वाधीनताएँ यहाँ उपलब्ध करा दी जाए, तो भारत की स्त्रियाँ बिगड़ जायेगी। समाज में अराजकता फैल जायेगी परिवार नष्ट हो जायेंगे क्योंकि पश्चिमी सभ्यता और भारतीय संस्कृति से बहुत बड़ा ही फर्क है। लेकिन अनुशासित सामाजिक व्यवस्था की तुलना में बाहरी नियंत्रण से मुक्त और स्वतंत्र व्यवस्था हमेशा बेहतर होती है– इससे तत्कालीन नतीजे भी निकलते हो। अतः यह बात से स्पष्ट है कि भारतवासी पुरुष की आजादी से नहीं, स्त्री के आजादी से डरते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्त्री की आजादी से डर पश्चिमी सभ्यता में भी कम नहीं रहा है। इन समाजों में स्त्री समाजां में संघर्ष का इतिहासि इसका गवाह है एक सुविधा के लिए दशकों तक संघर्ष करना पड़ा जैसे मत देने का अधिकार इस दृष्टि से भारत की स्त्रियाँ किस्मत वाली हैं कि जिन अधिकारों के लिए पश्चिमी की स्त्रियों को लम्बा संघर्ष करना पड़ा वे अधिकार उन्हें आसानी से मिल गये थे। परन्तु जहाँ तक सच्चाई का प्रश्न है बेशक अभी तो ये इन अधिकार का प्रयोग कागज पर ही कर पा रही हैं। जो स्त्री इन अधिकारों का उपयोग करने की स्थिति में हैं, उनकी भी दशा यही नहीं रहेगी।

भारत जैसे देश में होने वाली नारी सम्बन्धी चिन्तन से भी ज्यादा नदारद रहती हैं। यही वजह है कि भारत की ज्यादातर स्त्रियों को पहले सम्बन्धों से मुक्ति चाहिए उन परिस्थितियों से मुक्ति चाहिए जो समय उसकी श्रम शक्ति का और उसकी ऊर्जा को इस तरह से निचोड़ लेती है, कि और बातों को सोचने का मौका ही नहीं मिलता जहाँ तक स्वतंत्रता की बात की जाए वह क्यों हवाई चीज नहीं है जो कि हमारे मन के अन्दर से आती हो बल्कि स्वतंत्रता तब मानी जायेगी जब स्त्री मन, तन, धन से स्वतंत्र हो जाए तभी उसे पूर्ण स्वतांता मिलेगी न कि संसद द्वारा पारित अनेक अधिनियमों से? जो स्त्री रोज अठारह घण्टे काम करने को बाध्य है उससे उम्मीद कैसे की जा सकती है कि वह जीवन के उन पहलुओं पर ध्यान दे सकेगी जिनका अस्तित्व बुनियादी सार्थकताओं से है। यह विचार देने योग्य बात है कि स्त्री–मुक्ति के प्रश्नों पर क्या वे महिलाएं ज्यादा विचारणीय नहीं रही, जिनके पास इनके लिए पर्याप्त समय है? यदि उन्हें घर के लिए विचारणीय नहीं रही, जिनके पास इनके लिए पर्याप्त समय है? यदि उन्हें घर के लिए खाना बनाना, कपड़ा धोना, झाड़ू–पोछा करना और पानी लाना पड़े, तो समाज के लिए उनके कितना रचनात्मक योगदान रह जायेगा? भारत जैसे देश में गरीब परिवार की स्त्रियों के दैनिक जीवन पर नजर डालने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसका कितना समय पानी का इन्तजाम करने कोयला या लकड़ी के आँच पर खाना बनाते या अन्य कार्यकरते वक्त समय, ऊर्जा दोनों बर्बाद होता है।

परन्तु वर्तमान समय परिवेश के अनुसार स्त्री–विमर्श की जगह स्त्री स्वतंत्रता से लगाया जा रहा है। आज भारतीय स्त्रियाँ शिक्षा के प्रचार के साथ–साथ उनमें नयी चेतना का अनुभव हुआ है तथा भारतीय समाज का मुख्य केन्द्र–बिन्दु परिवार था, इसके केन्द्र में मुख्य रूप से स्त्री–पुरुष सम्बन्ध प्रमुख रूप से थे। आज भारतीय नारी शिक्षित होकर पुरुष के बराबर कदम–कदम पर चल रही हैं आज शिक्षित होकर डाक्टर, इंजीनियर, पायलट, वकील, वैज्ञानिक, सेना आदि में पुरुषों के साथ–साथ चल रहीं परन्तु अभी ग्रामीण स्त्रियों की स्थिति कुछ दयनीय जरूर है। ग्रामीण क्षेत्र में स्त्रियों की अपेक्षा कुछ कम पढ़ी लिखी होने के कारण उनमें कुछ विकास दिखाई देता है वह शहरी स्त्री की अपेक्षा अन्य कार्यों में कम सहयोग दे रही हैं। भारत सरकार द्वारा स्त्रियों को नौकरी, राजनीति में आरक्षण देकर समानता की कोशिश की जा रही है।

हिन्दी साहित्य में जहाँ स्त्री–विमर्श की बात की जाए तो यह एक नयी चीज देखने को मिलती है। यद्यपि स्त्री–विमर्श की शुरूआत आधुनिक युग से शुरू होती है। हिन्दी साहित्य की पहली लेखिका 'बंग महिला' राजेन्द्र बाला घोष ने स्त्री के ऊपर हो रहे अत्याचार के विरूद्ध लेखनी चलायी। उन्होंने अपनी आवाज बुलन्द करने के लिए किसी मंच का उपयोग नहीं किया। वे स्त्रियों के परम्परागत कार्यों एवं क्रिया–कलापों की पक्षधर थी, उनके अनुसार, ''स्त्री शिक्षा का अर्थ घरेलू कार्य करने में महारथ हासिल करना व पुरुषों के आदेशों एवं बातों में हाँ में हाँ मिलना था'' इसी कारण से बंग महिला की रचना में स्त्री चेतना के प्रति वह धारा नहीं दिखाई देती जो बंगाल महाराष्ट्र के स्त्री रचनाकारों की रचनाओं में व्याप्त है।

इसके बाद सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा की रचनाओं में स्त्री चेतना मुखर रूप में पात्रों के माध्यम से आयी महादेवी वर्मा शृंखला की कड़ियों में स्त्री मुक्ति की बात कहती हैं कि ''उसने (पुरुष) कहीं स्त्री को देवता को दासी बनाकर, पवित्रता का स्वांग भरा, कहीं मंदिर में नृत्य करा कर कला की दुहाई दी।'' सुभद्रा कुमारी चौहान महादेवी वर्मा को हिन्दी पट्टी में स्त्री के जीवन से जुड़ी हुई रचनाकार मानी जा सकती हैं। पर उन्होंने आज के नारीवाद के फार्मूले से हटकर नारी चेतना की बात की है।

स्त्री स्वतंत्रता की बात करते हुए सुभद्रा कुमारी चौहान ने दृष्टिकोण कहानी में कहा है कि ''जी हाँ जितना इस घर में आपका अधिकार है, उतना ही मेरा भी। यदि आप आने किसी चरित्रहीन पुरुष मित्र को आदर सम्मान के साथ ठहरा सकते हैं। जो मैं भी किसी असहाय अबला को म से कम आश्रय दे सकती हूँ''। इन महिला रचनाकारों के अलावा उस समय कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद, जैनेन्द्र, यशपाल, निराला आदि रचनाकारों ने भी यत्र–तत्र अपने रचना में स्त्री व उससे सम्बन्धित अनेक पहलुओं को अपने लेखन के माध्यम से उजागर किया तथा उनकी समस्याओं को समाज के साथ जोड़ा। निराला की कविता ''तोड़ती पत्थर'' में स्त्री जीवन को सूक्ष्म रूप से रेखांकित करने का प्रयास किया है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में हिन्दी साहित्य के ग्रन्थ और काव्य में भी काफी बदलाव आया है। कवि व लेखन के लेखन भाव से यह बात साफ दिखाई दे रही है। वर्तमान समय में महिला रचनाकारों ने जनता के सामने साफ दिखाई देने वाले रचनाकारों ने इन महिला साहित्यकारों की बाद दिखायी देने वाले मनुवादी रचनाकार इसे अश्लील साहित्य द मांसल साहित्य कहकर इसे नकारने की कोशिश की। इस समय महिला रचनाकारों पुरुष द्वारा बने बनाये चौखट को ध्वस्त कर यथार्थ जीवन व सत्य के धरातल पर अपनी बातें कविताओं के माध्यम से कहना प्रारम्भ किया तथा अनेक कविताएँ स्त्री–विमर्श पर लिखी जाने लगी। इन कविताओं में रूढ़िवादी मानसिकता व परम्परा का खुला विद्रोह है जिससे सभ्यता व संस्कृति को भी महिला रचनाकारों ने ठुकराने का साहस किया।

भारत में स्त्री–विमर्श के कई पहलू सामने आये हैं। एक पहलू तसलीमा नसरीन का है इसके भी कई–कई पहलू हैं, जो शोभा डे, सरलादास के तर्कों में दिखायी पड़ते हैं। जो कि स्त्री जीवन की अन्दरूनी समस्याओं को रेखांकित करती है। दूसरी ओर कमल चित्रा मुद्गल, पुष्पा शर्मा, मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका जैसी सैकड़ों हिन्दी लेखिकाओं को स्त्री–पुरुष भेद से जुड़ी हुई कल्पना में दिखायी पड़ती है। स्त्री को जाति मान कर बहस जब शुरू हुयी थी और मैंने स्त्री–जाति लेखक को अलग करते हुए स्त्री–लेखन और पुरुष बताकर बांटना ठीक नहीं है। मृदुला गर्ग ने बातचीत में कहा था कि भारत में आप जैसी विदुषी स्त्रियों के लिए सारी चीजें सेक्स में सीमित है। हमारे देश में स्त्री को जाति माना जाता है। सेक्स नहीं यह बात पुरानी है कि नारी देह को देवी कहा जाता था। परन्तु वर्तमान समय में दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्त्ता नकीसा अली के अनुसार– ''हाउस वाइफ और वूमन के बारे में जो भी सोचा जाता है वह महज धारणा है, दोनों के बराबर अधिकार हैं और दोनों के सामने चुनौतियां भी बराबर की हैं हमारे देश में गृहणियां बहुत ज्यादा काम करती हैं। सुबह से लेकर रात तक वे कुछ न कुछ करती रहती हैं। उनका मानना है कि बच्चे के लिए उनकी माँ से ज्यादा देखभाल कोई स्त्री नहीं कर सकती है। परन्तु वर्ममान समय में काम काजी महिलाओं के लिए यह काम कठिन है पर वे भी इस काम को बखूबी तरह से निपटारा कर रही हैं। वे कहती हैं घरेलू और कामकाजी बनने का फैसला करने का हक खुद महिला को होना चाहिए। कोई घर में यह नहीं कहे कि बहू या बीबी काम न करे। उन पर कोई दबाव न होवे खुद से चयन करे तो उन्हें अपनी भूमिका महत्वपूर्ण लगेगी। समाज को भी इसमें साथ देना चाहिए।

इसी प्रकार वर्तमान समय में अनेक महिला लेखकों बालीवुड में अपने कथा के माध्यम से नया संदेश दिया है इसमें प्रमुख हैं इलाबेदी दत्ता, जूही चतुर्वेदी, रितु भाटिया, भवानी अय्यर, मेघा रामास्वामी आदि महिला लेखकों ने बालीवुड में महिला लेखकों को तवज्जो दी जा रही है। दिलचस्प बात यह है कि पुरुषों को रोमांटिक इमेज महिला लेखक बना रही है तथा फिल्म सीरियल आदि कथा लेखन में पुरुष को बराबर की सहभागिता कर रही हैं। इसी प्रकार वर्तमान समय में नायक प्रधान फिल्मों के अलावा स्त्री नायिका प्रधान फिल्में भी बनायी जा रही है जो कि स्त्री–पुरुष सहभागिता को एक बढ़ावा मिलेगा।

इसके अलावा आज स्त्रियाँ विज्ञान, व्यापार आदि को बढ़ावा देने के लिए स्त्री सहभागिता को बढ़ावा देती है तथा इसके अलावा राजनीति में भी आज स्त्री–पुरुष के समकक्ष बनकर खड़ी है। आज ग्राम प्रधान से लेकर मुख्यमंत्री के अलावा राष्ट्रपति पद तक स्त्री विराजमान हैं। इसके अलावा वर्तमान समय में सेना तथा अन्य प्रशासनिक पद पर स्त्री को बढ़ावा मिल रहा है तथा वे इसका फायदा उठा रही हैं। आज करीब–करीब सभी आफिस में कम से कम पांच प्रतिशत स्त्रियाँ उपस्थिति जरूर रहती है। इसमें स्त्री सशक्तिकरण की दिशा को बढ़ावा मिलेगा।

हिन्दी साहित्य में स्त्री–विमर्श की शुरूआत मध्यकाल से देखी जा रही है परन्तु जहाँ तक विकास का सवाल है आधुनिक काल में स्त्री–विमर्श का विद्रोही स्वर पद्य की जगह में ज्यादा मुखरित हुआ। स्वातंत्र्योत्तर भारत में स्त्री सरोकार से जुड़ी लेखिकाओं का एक खेप उभर कर सामने आया है। इन लेखिकाओं में पाश्चात्य परम्परा व आधुनिकता बोध का सीधा सम्बन्ध दिखाई देता है। ये लेखिकायें पाश्चात्य परम्परा रचनाओं से प्रभावित कर आधार बनाकर उपन्यासों, कहानियों की रचना में प्रारम्भ किया जिसके प्रमुख रूप में आत्मबोध, स्वीकारोक्ति एवं रूढ़िगत परम्परा का सीधा टकराव दिखाई देता है, जिनमें दिनेश, नन्दिनी, मैत्रेयी पुष्पा, रजनी पनिकर, प्रभा खेतान, ममता कालिया, नासिरा शर्मा आदि

लेखिकाओं ने अपने उपन्यास, कहानियों का आधार स्त्री के विभिन्न प्रकार की समस्याओं को बनाया, जिसमें दहेज प्रथा, बाल विवाह, सामाजिक समस्या, स्त्री अधिकार आदि प्रमुख हैं। इसके अलावा प्रमुख कथा लेखिकाओं शिवानी, कृष्णा शोभती, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, शशिप्रभा आदि प्रमुख हैं।

इन स्त्री–विमर्श के पहलू कविता के साथ गद्य कथा क्षेत्र के रूप में स्त्री लेखिकाओं ने ज्यादा इसे प्रसारित किया। इसी क्रम में उषा प्रियंवदा के चर्चित उपन्यास 'पचपन खम्भे लाल दीवारें', 'रूकोगी नहीं राधिका' और 'शेष यात्रा' है। उनके कई कहानी संग्रह स्त्री पक्ष के विभिन्न पहलुओं को चित्रित करते हैं। उषा प्रियंवदा के कथा लेखन की विशेषता देशी–विदेशी सभ्यता के पक्ष को देखकर है। इसके क्रम में कृष्णा सोबती का नाम महिला कथाकारों में सदैव विशिष्ट है। वे अपनी रचनाओं में स्त्री–मुक्ति एवं महिला अधिकार के मुद्दे पर काफी खुलकर प्रक्रिया दी है। इनके भाषा का प्रखर काफी तेज है। इसे अलावा ममता कालिया का कथा साहित्य इस तथ्य को उजागर करता है कि आज के बदलते परिदृश्य में भारतीय स्त्रियों की मनःस्थिति आज असमंजस की स्थिति बदलता है जिसमें प्रमुख 'एक पत्नी के नोट्स' में लेखिका की मनःस्थिति चीज को उजागर करती है कि साहित्यिक संवेदना से लैस व्यक्ति अपने निजी जीवन में क्रूर और संवेदनीन कैसे हो जाता है।

इन महिला रचनाकारों के अलावा मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, सुमन राजे, ममता कालिया आदि प्रमुख रचनाकार हैं जो अपने रचनाओं द्वारा स्त्री–विमर्श को हाशिये से उठाकर मुख्यधारा में शामिल किया है तथा स्त्रियों को निजी स्थिति से जोड़ा तथा समाज में एक विशेष स्थान का दर्जा प्रदान किया। इसी संदर्भ में प्रसिद्ध आलोचक निर्मला जैन का मानना है कि आज स्त्री–विमर्श समाज के बड़े स्त्री समाज की चिन्ताओं से नहीं जुड़ सका क्योंकि जो स्त्रियां इसका नेतृत्व कर रही हैं वे अपनी हैसियत बनाने में इसका इस्तेमाल कर रही हैं एक सतही साहसिकता का प्रचलन बढ़ रहा है। लेखिकाएँ आती हैं ली जाती हैं, क्योंकि सब कुछ सतही होता है। उन्हें ऐसा नहीं लगता कि साहित्य में यह आन्दोलन शक्तिशाली है। केवल स्त्रियों की समस्या उठाने से या रचना में यौन सम्बन्धों से साहसिक चित्रण कर देने से आन्दोलन नहीं बनता यह सही है कि हिन्दी साहित्य में स्त्री–विमर्श ने काफी बड़ी दूरी तय की है। धर्म, संस्कृति, समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था और परिवार पर सवाल उठाये जा रहे हैं। कविता में स्त्री आक्रोश और चिन्ताओं को बड़े पैमाने पर अभिव्यक्ति भी मिली है। इन मुद्दे पर फुटकल किस्म में आने से स्त्री–विमर्श का नया सौन्दर्य नहीं बन पा रहा है। इनकी सोच अलग है और रचना अलग यह कोई व्यवस्था नहीं बन पाया कि मुख्य केन्द्र–बिन्दु क्या है।

आज महिला लेखिकाओं ने पुरुष लेखन के बराबर स्त्री लेखन कर रही हैं। इन्हीं कारणों से स्त्री–शिक्षा जरूरी है पर इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि स्त्री आगे जाकर स्वायत्तता, आत्मनिर्भरता आज के समाज में स्त्री का एक भाग है। वह इससे ऊपर उठकर शिक्षा तथा अन्य क्षेत्र में कार्य भी कर रही हैं। वह समाज में नये सोच के साथ पुरुष के बराबर उठ खड़ी हुई हैं।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. उत्तर प्रदेश, मई 2003 ई0, सं0 विजयराय, लखनऊ
2. हंस मासिक पत्रिका (विशेषांक 2009), सं0 डॉ0 राजेन्द्र यादव
3. शृंखला की कड़ियाँ– महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
4. स्त्री मुक्ति का सपना, राजकमल प्रकाशन, 2009
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास– डॉ0 सुमन राजे, प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, चौथा संस्करण 2011
6. Universal Review, Vol. I-II, 2011, Published- SITBS, Kolkata (W.B.)
7. शोध रिसर्च जर्नल अंक–2, वर्ष 2011, सं0 डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय, प्रकाशक, इतिहास लेखन परिषद, वाराणसी, उ0प्र0

Phrasal Identification and Analysis of Sanskrit Noun Phrase

Dr. Abhigyan Dwivedi
Assistant Professor
Department of Linguistics
Dr.Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar

Abstract

Phrase is an intermediate unit of a language that plays an important role in linguistic analysis or in syntactic parsing. In computational analysis of any language, various linguistic units are identified and analyzed in order to fulfill the target of any natural language processing applications like - machine translation, information retrieval, language generation, speech processing etc. Here, an attempt has been made to identify and analyze the Sanskrit Noun Phrase on the basis of Panini Grammar,that will be beneficial for any of the computational processing of Sanskrit.

Keywords- Sanskrit noun phrase, phrasal analysis, Panini grammar, Computational analysis

Introduction

Traditional Sanskrit grammars do not mention the term 'phrase'. The term 'pada' is used for an affixed word containing grammatical features viz. number, person, gender in nominal declension and number, person, tense, aspect and mood in verbal conjugation. The difference between a 'pada' and a 'phrase' is similar to the difference between a 'word' and a 'phrase'. Noun Phrase can expand from a single noun to a sentence. In Sanskrit, these noun phrases can be seen in the works of Sanskrit prose writers. Noun Phrase comprises of a head noun with its attributes that can be a determiner, demonstrative, numerals etc. Further, a nominal can be a base noun, a primary derivative, a secondary derivative or a compound. Here, a focus will be on the different nominal elements forming a Sanskrit noun phrase.

Pre-nominal elements in Sanskrit Noun Phrase

Major pre-nominal elements that occur within the Sanskrit noun phrase are possessives, demonstratives, quantifiers and attributive adjectives. These pr-nominal elements are as follows:

1. Demonstratives

i)	[sah] manushyah	ii)	[idam] pustakam
	that man		this book
	'that person'		'this book'
iii)	[te] manushyaah	iv)	[imaani] pustakaani
	those men		these books
	'those persons'		'these books'.

2. Possessives/Genitives

i)	[anilasya] griham anil's house ' anil's house'	ii)	[mama] bhraataa my brother 'my brother'

3. Adjectives

a.	[nuutanam] griham new house 'new house'	ii)	[shobhanaa] strii beautiful woman 'beautiful woman'

4. Quantifiers

a.	[sarve] chaatraah all students 'all students'	ii)	[bahuuni]dinaani many days 'many days'

5. Numeral-cardinals

i)	[ekah] baalakah one boy 'one boy'	ii)	[catwaari] pustakaani four books 'four books'

6. Numeral- ordinals

i)	[prathamam] dinam first day 'first day'	ii)	[chaturtham] sthaanam fourth place 'fourth position'

Types of Sanskrit Noun Phrase

On the basis of nominal elements in a noun phrase, we can divide Sanskrit noun phrases into two types-simple noun phrase and complex or sequential noun phrase. Simple noun phrase contain all single occurrence or conjoined occurrences of the nouns and pronouns. Proper nouns and pronouns can be kept under this category. Complex noun phrase comprises of the modified nouns. Nouns can be modified by various nominal elements. Adjectives, demonstratives, numerals, indeclinables or avyayas are some of the major noun modifiers.Sequential Noun phrase can further be divided into two sub groups depending on the co-occurring nominal elements. These are -

1. Modified Noun Phrase and
2. Miscellaneous Noun Phrase

1. **Modified Noun Phrase**- This type of noun phrase contains a head noun with one or more modifier/s. Demonstratives, Adjectives, Genitives/Possessives, Indeclinables and Nominals are the modifiers. Nominal denotes the nouns which are used as classifiers or appositives. Almost all the above are pre-modifiers, except some adjectives which post-modify the head noun optionally.

Demonstrative- In Sanskrit, demonstratives are-tad (that), etad (this), idam (this) and adas (that).These have inflected forms for case, number and gender.

Adjective – Various adjectives modify the nouns qualitatively or quantitatively. These are – numerals, qualitatives, multiplicatives, measurement words and question words. These can be seen in following examples with meanings.

(i) Numerals- These are of two types –cardinals and ordinals and these occur in definite inflected forms. The cardinal word 'ek' is used in different senses-some, first, simple, same and one. When it occurs in the sense for the number 'one' it is used in singular number. It stands for above said different meanings in plural form. There are definite forms for all the numerals starting from 'one'. The number 'two' have inflected forms in all three genders and in only dual number. The number 'three' and 'four' have different forms in all three genders and in only plural number. The inflected forms from number 'five' to 'nine' occur in plural and remain same for all the three genders. The numbers from 'nineteen' and above have inflected forms in only singular number and remain same for all the three genders. Ordinals also have definite inflected forms in different gender. The forms for masculine and neuter genders are same and are different from those in feminine gender.

Example-

1. catvaarah baalakaah 'four boys'
2. catasrah baalikaah 'four girls'
3. prathamah chaatrah 'first (male) student'
4. prathamaa chaatraa 'first(female)student'

(ii) Qualitative- These are simple adjectives which denote the quality, feature or position of its head. These occur with head noun and follow the number, case and gender of its head noun. Wherever it occurs in place of noun it is considered as a noun or noun is understood as a hidden element. It can also take post nominal position optionally. There are certain adjectives which remain same irrespective of the case, number and gender of its head noun .In traditional grammar such types of adjectives are termed as Ajahalling.

1. Tatra shobhanani grihani santi.

   'there good houses are'

   There are good houses.

2. Dushtah janah pashum taadayati.

   'wicked person to animal beats'

   Wicked person beats the animal.

3 Aham pavitram aapah vaanchaami.(Ajahlling).

   'I pure water want'

   I need pure water.

(iii) Multiplicative- Sanskrit multiplicative words are formed by adding 'gun' or 'gunit' in number words. The suffix 'aavritt' or 'aavartit' can also be used for the sense of repetition.

Example-

1. Sushilah vyaapaare dwigunam dhanam lebhe.

   'Sushil in business double money got'

   Sushil earned double profit in business.

2 Iyam ajaa dwiraavrittayaa rajjwaa baddhaa.

'This goat double repeated rope tied'

This goat is tied in double rope.

(iv) Measurement words – These are used to measure the head noun in weight, height, quantity etc.; time is also included in this category.

Example-

1. aham praatahkaale ek miil paryantam calaami.

'I in morning one mile up to walk'

I walk up to one mile in morning.

2. sah ashta vaadane devasthaanam gacchati.

'He eight o'clock temple goes'

He goes temple at eight o'clock.

(v) Interrogative Adjective- Question words also qualify noun .These are- kim, kati, kimapi, kimcit, kaacit etc.The question word in Sanskrit is 'kim'. It inflects for gender, number and case. Affixes like –cit, -can, -api, -svid etc. can be affixed to add further meanings. The forms after adding these suffixes are kimcit, kimcan, kimapi and kimsvid respectively.

Example

1. aham kimcit kshanam vaanchaami.

'I some seconds need'

I need few seconds.

2. mama kimapi kaaryam na abhavat.

'my any work not happened'

Indeclinables - Sanskrit avyayas play different roles in a sentence. An avyaya can be an adjective, an adverb, conjunction, preposition or an interjection. Negative particle 'na' is one of the indeclinable to modify the noun.

Example- (i) Na ucitam (not right/good)

(ii) Na aapattih(no objection)

Nominals – A noun/pronoun also modifies other nouns. It can be in form of possessives or as a case in apposition.

Example-

asmaakam praachaaryah Devdattah vidwaan purushah asti.

Our principal Devdatta scholar man is

'Our principal Devdatta is a scholar'

2. Miscellaneous Noun Phrase - This category is termed to include all remaining sequential noun phrases. This includes avyayas/indeclinables specially 'karmapravachniyas' which post/pre modify the noun to form a strong noun chunk.

Example- graamam paritah tasya kshetrani santi.

Village(acc.) around his fields are

'His fields are around the village.'

Here, 'graamam paritah' is a noun phrase and 'paritah' is one of the indeclinables which always co-occur with nouns in accusative case.

Sanskrit Noun Phrase constituents: Order of the occurrence-

Sanskrit noun phrase shows a fixed order of constituents as in English noun phrase. Adjective precedes the noun. The determiners and genitive phrase precede the adjectives. Quantifiers occupy the position between determiners and adjectives. The determiners, genitives and adjectives agree with the number, case and gender of the head noun generally, but, often there are certain indeclinable adjectives that remain in the same form irrespective of case, number and gender.

The expansion of these constituents in forming a noun phrase can be seen below. Adjectives modify a noun or more than one noun, by occurring in single or in a sequence.

Further, these adjectives can be modified by qualifier/s. The qualifier may be same for all modifying adjectives or may be different for each of them.

Expansion of Sanskrit Noun Phrase-

1. NP= Det+N

Example- [eshah baalakah], [kincit jalam] etc.

2. NP=Adj+N

Example- [veerah purushah],[pavitram jalam] etc.

3. NP=Gen+N

Example- [baalakasya pustakam],[guroh vandanam] etc.

4. NP=Num+N

Example- [ekah janah],[triini pustakani] etc.

5. NP=Det+Adj+N

Example- [eshah veerah purushah], [kincit pavitram jalam] etc.

6. NP=Gen+Det+N

Example- [baalakasya idam pustakam],

[vidyalayasya etat bhawanam] etc.

7. NP=Gen+Adj+N

Example- [vidyaalayasya medhaavi chaatrah]

[baalakasya naveenam vastram] etc.

8. NP=Det+Num+N

Example- [imaani triini pustakaani]

[kimapi ekam vastram] etc.

9. NP=Gen+Num+N

Example- [baalakasya triini pustakaani]

[vidyaalayasya vinshati prakoshthaani] etc.

10. NP=Num+Adj+N

Example- [ekah veerah purushah]

[triini nuutanaani pustakaani] etc.

Thus, the sequence of Sanskrit noun phrase pre-modifiers can be seen as follows

Genitive + determiner + quantifier + adjective phrase + Noun

Conclusion

In this manner, the Sanskrit noun phrase can be identified and can be analyzed in order to process any type of computational analysis or generation required in any natural language processing applications. The Sanskrit Noun Phrase classification is important in their identification so to fulfill the purposes of various linguistic studies as well as in achieving various computational processing goals too.

References

1. Sharma,R.N. 1987. The Ashtadhyayi of Panini. Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd. Vol.1-2.
2. Bharati A,ChaitanyaV. and Sangal R.1995.Natural Language Processing: A Paninian Perspective. Prentice Hall of India.
3. Caradona,George. 1994. Panini: Astadhyayi and its tradition. Motilal Banarasidas. Varanasi.
4. Radford, Andrew. 1997. Syntactic Theory and the structure of English. Cambridge University Press. Cambridge.
5. Abney,S.P. 1987.The English Noun Phrase in its sentential aspects. Doctoral Thesis. Massachusets Institute of Technology. Massachusetts.
6. Apte,V.S. 2002. The Student's Guide to Sanskrit Composition. Chowkhambha Sanskrit Series Office. Varanasi.
7. Gillon, Brendan S. 1996.Word Order in Classical Sanskrit. Indian Linguistics.57 (1):1-35.
8. Givon,T. 2001. Syntax: An Introduction. John Benjamins Publishing Company. Philadelphia.
9. Greenbaum S.and Quirk,R. 1990.Student's Grammar of the English Language. Longman.

The Theme of Home and Exile in Joan Riley's Novel *The Unbelonging*

Dr. Varsha Singh
Associate Professor, Department of English
Deshbandhu College, University of Delhi
Kalkaji, New Delhi-110019

Abstract

The present paper envisages exploring the crisis of displacementin the lives of Jamaican women living in England through the perspective of Joan Riley's novel The Unbelonging. In literary discourse, the concept of exile is often highlighted to focus on the individual's sense of alienation and displacement. Sometimes this alienness is analysed as an emotional trauma to the life of those who immigrated to another country.This may be considered as a sort of displacement from the homeland andthe hostile condition in the adopted country. Writers from the migrated community have always documented the idea of displacement through the prism of their own experiences.The style, themeand content of their writings have been highly influenced by the extent to which they have been able to identify and adapt to their surroundings. The dilemma of belonging, identity, the struggle to adapt and adjust, and the quest for identity are some of the major concerns of these writers.

Keywords: Diaspora, Home and Exile, Expatriation, Identity Crisis, Displacement, Alienation.

> *"Where is home for Starters? Can you call a country which has systemically colonialized your countries of origin, one which refuses through a thorough racism in its institutions, media and culture to even recognize your existence and your rights to that existence -- Can you call this country "home"?"*[1]

The interpretations of home and exile, personal history and location have brought a lot of changes in the lives of black women living in Britain. Their experience in Britain has its genesis in British colonialism (their migration for exploitation) and the disruptions which followed their earlier involvement in the forced migration, indenturing and enslavement of African people. Because of their long history of enslavement, black British women have to redefine the contours of identity, location, writing, theory and time, thus redefining themselves against the Empire construct. Living within the administrative centre of the former British Empire, black British women writers like GloriaAnzaldua, Merle Collins, Verna Allette Wilkins, Joan Riley, Beryl Gilroy, etc.articulate an eternal/external critique which challenges simultaneously the meaning of empire, the project of post-coloniality and various nationalistic identifications of home.Their works like *Charting the Journey, The Heart of the Race, Black Women's Lives in Britain, BringingIt All Back Home, Young, Female and Black,* etc. are some of the responses to the migration, family and community relations, and their struggle for identity. Writing in a tradition which is not one's own and in a language which is one's own by acquisition or education constitutes the colonial self in its "twoness", in its ambivalence which forms the core of the novel of colonial consciousness. They are searching for reconnections beyond the boundaries imposed by colonialism and

imperialism through their literary works. "Home is a place where you live; Home is a place where you can't live"[2]has become the central theme of their uprising textualities. Such literary works are, called as Gurbhagat Singh says, a type of "writing in its theory and practice, is the work of the exile who has experienced unsettlement at the existential, political and metaphysical levels. With this experience, he/she has unsettled the philosophical and aesthetic systems".[3]

Today, the "Black Lives Matter" movement raises voices in support of people who have been oppressed by a white racist society. The idea of "multiculturalism" is in talk nowadays, but to what extent or limit is there really space for allthe aspects of different cultures, in a blend which is meant to be aunified and not a forced integration? To begin with, in Great Britain the word "black" is used to describe the entire African community that migrated from the WestIndies and the rest of the parts of the African continent.Their numbers are large and growing day by day. It has produced award-winning writers like Alex Wheatle, Aminatta Forna, Benjamin Zephaniah, Diana Evans, Dorothy Koomson, Joan Riley and many others. Originally, they belong to different parts of the African continent and has different cultural and social backgrounds. Culturally or geographically, though they may differ from each other, they share common experiences of racial discrimination. In the case of Black women in Britain, racial jeopardy collaborates with patriarchal hegemonic oppression. Though African-Caribbean women are fighting for their rights and equality, they hesitate often to use the word "feminism," for their voices against this double subjugation, feeling that this notion of women's rights is mainly connected to exclusiveness and even racism. This has caused a large number of interesting debates among thinkers and writers alike about the links between consciousness-raising and the politics of identity.

In this context, Joan Riley is the first Jamaican-British author to articulate the dilemma of black women living in post-colonial England from the women's perspective. Her novel *The Unbelonging*has a unique place in post-colonial British literature as the first work to deal with life and day-to-day challenges faced by women of colour in England. Looking through the prism of her own experiences as a migrant in England Riley is best capturing the issues of home and exile in the lives of Black British women. This novel deals with the ideas of migration, family, community relations, education and the struggle for identity and home. Coping with racial discrimination and domestic violence, the main protagonist of this novel highlights the traumatic migrant experiences in the host country where she was living.

Originally a bildungsroman in concept, *The Unbelonging* deals with ayoung black girl named Hyacinth, who is the central figure in the novel. She makes the journey from her Jamaican home to London to live with her father after living with her aunt Joyce in the Caribbean.She does not want to leave Jamaica for London. Immigration is a dream to the desirable, but not to the people like Hyacinth who is already terror-struck over the idea of leaving her aunt. Her alienation from her father is in contrast with her deep love for aunt Joyce and her own country. Her childhood becomes a series of trauma which includes physical and sexual assault by her own father (who is himself victimized by racism)and the British school system. She becomes a displaced figure tormented by a family that cannot organize itself to love and protect her and an outside system, which does not seem to care and even turns against her in violent ways. Between the cold and dinginess of London, her bed-wetting and struggle to grow up are her idyllic dreams of "back home." Her dismay is expressed during her initial encounters at the airport in London:

> "She had been feeling lonely and small, and wishing for Aunt Joyce, for Jamaica and her friends, hating the father who had insisted on sending for her. Well, she had thought she hated him then, but boy, had she been wrong. There is a sea of white

> faces everywhere, all hostile. She had known they hated her, she had felt small, lost and afraid….”[4]

Significantly, her fatherhad learned to utilize her double fear and need against her (the fear of white racism and her desire for home) in order to maintain his control over her. And paralleling this fear and hatred is her own growing self-hatred which found beauty and elegance always in European features and physical characteristics:

> “She often wished that she had nice hair,that her skin was lighter,she was sure they would not pick on her then. The more she suffered, the more she clung to thoughts of Jamaica sinking further into her world of dreams.”[5]

Hyacinth’s whole life becomes a manifestation of this sense of unbelonging, a sense of feeling unwanted which parallels the dream of going back home to Aunt Joyce. Images of homelessness, desire, dreaming, and strangeness cover the entire novel. Running for her life from her father’s house because of his unrelenting abuse, she enters the white society’s discriminating system, and while it holds her at arm’s length, she is able to make her way, develop her own interests and claims some things for herself in the hostile world of her surroundings.

In this context, a series of small drab and lonely rooms in foster homes, reception homes, and institutional homes as described in the novel heightens the sense of displacement. Rooms, here, become metonymic references for reduced space and the references to homes are, therefore, often within the context of alienation and outsideness. At university, Hyacinth resists the demystification of her dreams of the home which she encounters through the progressive politics of the university students whom she meets.

All her movements, therefore, lead to returning to the flat, stereotypic and over-romanticized “home” as the culmination of all the desires she carries over the years. When she returns, however, predictably reality and dreams converge in a nightmarish sequence with the dying Aunt to whom she had not really written, a run-down housing situation, neglect and poverty. People are hostile to the “foreignness” of particularly those like Hyacinth, who with all her dreams, had never written or sent anything to help people back home. The importance of ‘writing home’ is thus foregrounded over the flat constructions of “dreaming of the homeland”.[6] “She could not remember living in the hovel, could not recall this decay and neglect.”[7] The refrain she hears, “Go back where you come from”[8]highlights her sense of unbelonging and identifies the critique of the false constructions of “belonging.” The disintegration of Hyacinth’s self tells us about the dilemma of black British women who never experience at home like feeling despite sacrificing everything they have to be a part of the country where they are living.

Thus, migration produces a sense of unbelonging which, then, triggers memories of England, its own pain and the identical cries of “Go back where you belong.”[9] Hyacinth’s sense of displacement is juxtaposed with the tourists who seem to be more located and, because of whiteness, seem to her to be always “at home” wherever they go. In the end. Hyacinth remembers her friend Perlene and misses the fact she had not identified with her sense of a need to construct a new world borne of resistance. Still, she returns to the world of her childhood, but it is no longer a romanticized dream of home, but rather one of a childhood of powerlessness and loneliness from which she had to recuperate.

In this way, the sense of alienation, displacement, and returning home in this novel successfully express the predicament of all black British women who are exploring their true identity in post-colonial England. Hanging between home and back home, it's nowhere ness

and everywhere ness, Hyacinth, here, represents the value of self-identification, which is the need of every black British woman.

> "Summoned to Britain by a father she has never known, eleven-year-old Hyacinth finds that she has exchanged the warmth and exuberance of the backstreets of Kingston, Jamaica, for the gloom of British inner-city life, finding herself in a land of strangers with hers the only black face in a sea of white. But Hyacinth is not a victim as, through academic achievement and dreams of her homeland, she survives and triumphs against the hostility of her classmates and threatened violence at home from her father, sustained forever by the sure knowledge that her dreams hold the truth."[10]

In conclusion, according to Stanislaw Barnezak, the word "Exile", "Expatriate" and "emigrant" are sad prefixes that conjure a "state of exclusion".[11] Joan Riley, in her novel *The Unbelonging*, successfully represented the community of Blacks living in Britain who participate in the fullest way to contribute to the economic life of the country, yet they suffer many times from racial discrimination, class prejudice and multiple levels of abuse. Through this novel, she has presented a critique of the idealization of the diaspora on one side and the quest for an identity for blacks in an alien nation on the other. The dilemma of the culturally in-between trapped self of black women has been beautifully shown by Riley in *TheUnbelonging.*[12]The novel deconstructs the notion of exclusion in the host country as painful for black women. But it also highlights the fact that not being included in her nation of origin is more tormenting for them. Growing concern about the class has arisen among writers and thinkers alike and with it the conviction that class has distorted perceptions causing a damaging impact on the lives of black women living in Britain. In this regard, this novel successfully shows their struggle to cope with class/race discriminationon one side in the new country and on another sustaining the relationship with the country of origin has become the main issue of consideration.

References

1. https://dokumen.pub/black-women-writing-and-identity-migrations-of-the-subjectpaperbacknbsped-0415100879-9780415100878.html
2. https://www.theatlantic.com/health/archive/2011/12/the-psychology-of-home-why-where-you-live-means-so-much/249800/
3. https://papers.ssrn.com/sol3/papers.cfm?abstract_id=3528104
4. https://www.greenvilleisd.com/cms/lib/TX01001755/Centricity/Domain/8/AP%20ELA%20III%20Mrs%20Austin%20Summer%20Reading%202017.pdf
5. Boyce-Davies, Carole.*Black Women, Writing and Identity: Migrations of the Subject*, Page: 74, Routledge, London, 1994.
6. Riley, Joan. *The Unbelonging*, Page-138,Trafalgar Square Publishing, Vermont: 1993.
7. Riley, Joan. *The Unbelonging*, Page-138, Trafalgar Square Publishing, Vermont: 1993.
8. Riley, Joan. *The Unbelonging*, Page-139, Trafalgar Square Publishing, Vermont: 1993.
9. Harper, George Mills. *Go back to where you belong: Yeats's return from exile*, Page-15, Humanities Press Publication, U.S.A. and Canada:1973.
10. https://sunynew.primo.exlibrisgroup.com/discovery/fulldisplay/alma996796966404844/01SUNY_NEW:01SUNY_NEW
11. https://www.literaryjournal.in/index.php/clri/article/view/389/580
12. https://www.researchgate.net/profile/BenedicteLedent/publication/330831741_Between_Conflicting_Worlds_Female_Exiles_in_Jean_Rhys's_Voyage_in_the_Dark_and_Joan_Riley's_The_Unbelonging/links/5c55b8c1299bf12be3f68198/Between-Conflicting-Worlds-Female-Exiles-in-Jean-Rhyss-Voyage-in-the-Dark-and-Joan-Rileys-The-Unbelonging.pdf

Vol. XIV, [Issue No. 2 & 3 combined], May– Dec. 2017 ISSN: 0970-1745, UGC Approved Journal No.: 42069

संत रैदास और उनकी विचारधारा

डॉ0 जगदीश प्रसाद शुक्ल
सह–आचार्य, हिन्दी विभाग
श्री रतनलाल कॉंवरलाल पाटनी
राजकीय पी0जी0 महाविद्यालय, किशनगढ़
अजमेर, राजस्थान–305801

हिंदी साहित्य के विभिन्न युगों, कालों का अपना महत्व रहा है। इन विभिन्न कालों में सबसे महत्वपूर्ण भक्तिकाल रहा है। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन में संतों की अपनी एक पृथक विशिष्ट परम्परा है। आध्यात्मिक दृष्टि–सम्पन्न इन संतों की अटपटी बानियों का, भारत को विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा और उस परम्परा के अन्तर्गत चली आ रही दार्शनिक विचारधारा की अभिव्यक्ति तथा उसका प्रतिनिधित्व करने के कारण हमारे साहित्यिक, सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी के ये निर्गुनिया संत सिद्धों के उत्तराधिकारी माने जाते हैं। संतों की यह धारा सिद्धों, नाथों, निरंजन पंथियों से प्राण पाती हुई, नामदेव, विलोचन, पीपा से प्रेरणा ग्रहण करती हुई कबीर, रैदास (रविदास), नानक, दादू, रज्जब आदि संतों में प्रकट हुई। कोई भी युग–दृष्टा अपने युग को बेहतर नजरिए से देखता है, कवि अपने युग की देन होता है। युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक स्थितियों तथा साहित्यिक परम्पराओं का स्पष्ट प्रभाव उसकी कृतियों पर पड़ता है। वास्तविकता तो यह है कि कवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के निर्माण में जितना उसकी इच्छाशक्ति का हाथ है, उससे कहीं अधिक श्रेय होता है–तत्कालीन परिवेश का।

हिंदी साहित्य इतिहास का मध्ययुग विभिन्न धर्मो, सम्प्रदायों, संस्कृतियों एवं आदर्शों का मिलन बिन्दु था। अपनी–अपनी ढपली, अपने–अपने राग वाले अन्तर्विरोधों के उस युग में जन्म लेकर भक्त संतों ने अपने क्रान्तिकारी, समाज–सुधारक व्यक्तित्व का परिचय देते हुए समाज को यदि नयी दिशा न दिखलाई होती तथा प्रगाढ़ ईश्वर–भक्ति, नैतिकता, कथनी– करनी की एकता आदि का संबल लेते हुए दर्शन की गुत्थियों को अलग रखकर एक ऐसा सरल; सहज मार्ग, जो सार्वजनिक एवं सार्वजनीन था, प्रशस्त न किया होता तो उस समाज की क्या स्थिति होती– हम कल्पना भी नहीं कर सकते। वस्तुतः 'मसि–कागद' से अपरिचित होते हुए भी चिंतन एवं विचारात्मकता को महत्त्व देनेवाले संत अलौकिक प्रतिभा एवं शक्ति सम्पन्न थे, जिन्होंने तत्कालीन सामाजिक परिवेश को दृष्टिगत करते हुए हिन्दू–मुसलमान दोनों ही वर्गों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने का स्तुत्य महनीय प्रयास किया। ये सारग्राही प्रवृत्ति के महात्मा थे, जिन्होंने जाति एवं धर्म के संकुचित दायरे से ऊपर उठ कर जनसामान्य के व्यापक हितों में समन्वय का मार्ग प्रदर्शित किया।

संत–साहित्य देश की सामाजिक, सांस्कृतिक एकता का सूत्र धार और प्रमाण है। दशवीं शताब्दी के बाद के समाज के सारे अंतर्विरोध संत–काव्य में व्यक्त हुए हैं। यद्यपि संतों की परम्परा वैदिक काल से लेकर अद्यावधि तक किसी–न–किसी रूप में प्रचलित रही है, किन्तु इसे विशेष अभिधान एवं प्रतिष्ठा मध्ययुग के प्रारम्भिक काल प्राप्त हुई, जब रामानन्द के श्री–सम्प्रदाय में दीक्षित कबीर एवं उनके समकालीन समाज–सुधारकों ने अपनी 'आँखिन की देखी' द्वारा समाज को एक नयी दृष्टि प्रदान की। संत परम्परा के इस प्रारम्भिक युग के संबंध में सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है– (उस युग में) ''अनेक संत अपने–अपने मार्ग से सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, किन्तु उनके जीवन में समान विशेषता यही विचार में आती है कि उन सबके भीतर से किसी दिव्य अध्यात्म और अव्यक्त तत्व के प्रति अमिट आस्था निरन्तर प्रकट होती थी। कबीर और रैदास इसके उज्ज्वल उदाहरण है। जीवन के कर्तव्य का पालन करते हुए आध्यात्मिक आनन्द और मानवीय प्रेम–इन दोनों से उन्होंने नाता बनाये रखा।''

समान्य जनश्रुतियों के अनुसार रामानन्द जी की शिष्य परम्परा में प्रसिद्ध रैदास उनके समकालीन थे अथवा उन्होंने रामानन्द से दीक्षा प्राप्त की थी, इसका कोई आधिकारिक प्रमाण उपलब्ध

नहीं है। हाँ, इनकी रचनाओं के अन्तः साक्ष्य से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि कबीर तथा सेन इनके पूर्व ही प्रसिद्धि पाकर स्वर्ग सिधार चुके थे। रैदास जी ने अपने पदों में बड़े आदर भाव तथा सम्मान के साथ इनका स्मरण किया है– 'निरगुन का गुन देखो आई, देही सहित कबीर सिधाई।' उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर रैदास जी का समय विक्रम की 15वीं से 16वीं शताब्दी तक पहुँचता है। "ऐसा जान पड़ता है कि ये कबीर के बहुत पीछे स्वामी रामानंद के शिष्य हुए क्योंकि अपने एक पद में इन्होंने कबीर और सेन नाई दोनों के तरने का उल्लेख किया है–

नामदेव कबीर त्रिलोचन सधना सेन तरै।
कह रविदास, सुनहु रे संतहु। हर जीउ तें सबहि सरै।।"[1]

परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी 'मीराबाई की पदावली' में लिखा है कि रैदास जी कदाचित् विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में उत्पन्न हुए थे। ''आप काशी के निवासी थे तथा अपने पैतृक व्यवस्था के साथ ही भगवद् भक्ति में तल्लीन रहते थे। आपने अपने चमार होने का उल्लेख कई पदों में किया है– ''कह रैदास खलास चमारा' तथा ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारा, कह रैदास खलास चमारा। जाके कुटुंब सब ढोर धोवत हैं फिरहि नितहि बनारस आसपास'' इतना होते हुए भी उन्हें उच्चकोटि का महात्मा एवं भक्त मानकर ब्राह्मण तक प्रणाम करते थे– ''अब विप्र परधान तिहि करहि डंडउति तेरे नाम सरणाई रविदासु दासा''[2] रैदास जी निस्पृह, उदार एवं संतोषी प्रकृति के थे, जिन्होंने अपने भगवदनुराग को साधु संतों की संगति से ब्रह्म की अविचल भक्ति की ओर उन्मुख कर लिया था। कालान्तर में आप एक प्रसिद्ध भक्त के रूप में प्रतिष्ठित हुए। यद्यपि रैदास जी के जीवन के संबंध में अधिक तथा प्रामाणिक जानकारी नहीं है, किन्तु उनके सम्प्रदाय में रैदास जी से संबंधित अनेक चमत्कारिक एवं अद्भुत किंवदंतियाँ प्रचलित है। मेवाड़ की झालारानी द्वारा इनकी ईश्वर भक्ति से प्रभावित होकर आपकी शिष्यता ग्रहण करने की बात इतिहास प्रसिद्ध है। मीराँबाई ने भी आपको गुरु रूप में स्वीकार किया था, रैदासी सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है किन्तु इन दोनों के काल में लगभग एक शताब्दी का अन्तराल इसे प्रामाणिक सिद्ध नहीं करता।

रैदास जी ने अपनी रचनाओं में कबीर की ही भाँति राम, कृष्ण, नरहरि, केशव, माधव, गोविन्द, महेश आदि विष्णु के अवतारी नामों का उल्लेख किया है। "रैदास का अपना अलग प्रभाव पछाँह की ओर जान पड़ता है, साधो का एक संप्रदाय जो फर्रूखाबाद और थोड़ा बहुत मिर्जापुर में भी पाया जाता है, रैदास की ही परंपरा में कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी स्थापना करने वाले वीरभान उदय दास के शिष्य थे और उदय दास अरदास के शिष्य में माने जाते हैं।''[3] रैदास ने निर्गुण पंथ के प्रति अपनी भक्ति भावना व्यंजित की है–

''जाके लील बरन, अकह ब्रह्म गले रुंडमाला,
प्रेम मगन फिरत नगन संग सखा बाला ।
अस महेश विकट भेस अजहूँ दरस आसा,
कैसे राम मिलौ तोहि गावै रैदासा।''

किन्तु रैदास जी के यह 'राम', 'महेश' सगुणोंपासको के राम से भिन्न है। वह असीम है। जिस राम के नाम का स्मरण करते–करते सारा संसार भ्रम में पड़ गया, वह राम रैदास का राम नहीं– ''राम कहत सब जगत भुलावा सो यह राम न होइ'' फिर उनका राम कौन है ? उनका राम तो निराकार, निरंजन है। रैदास की निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे, उनका ब्रह्म निर्विकार, अविनाशी तथा नित्य है– निरंजन निराकार निरलेपी, निर्विकार कार, निर्विशेष है–

''निश्चल निराकार अज अनुपम, निरभय गति गोविन्दा,
अगम अगोचर अच्छर अतरक, निरगुन अंस अनन्दा।।''

रैदास जी ने नाथपंथी योगियों की ईश्वर संबंधी मान्यताओं को अपनाया था। नाथियों की प्रत्यक्षानुभूति के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप की कल्पना की थी। संतों के अनुसार शून्य, अलख, निरंजन आदि और अंत है। शून्य के अतिरिक्त सभी माया है। रैदास जी ने शून्य मण्डल में अपना निवास स्थान बतलाया है–

'सुन्न मंडल में मेरा बासा, तातें जिव में रहो उदासा'

उनका ब्रह्म सर्वशक्तिमय, सर्वव्यापक एवं अखण्ड ज्योति स्वरूप है। संसार के कण–कण में वह व्याप्त है। कोई उसे वर्णनीय, कोई अवर्णनीय कहता है किन्तु यह तो मात्र अनुभव का विषय है–

''करत आन अनुभवत आन, रस मिलै न बेगर होई।
बाहर भीतर प्रगट गुप्त, घट–घट प्रति और न कोई।''

वह (ब्रह्म) न निर्गुण ही है और न सगुण ही। वह तो वहीं है जिसे कहा नहीं जा सकता। वह अनिर्वचनीय है तथा ऐसी अनुभूति का विषय है जिसकी अभिव्यक्ति संभव नहीं–

''जस हरि कहिए तस हरि नाहीं, है अस जस कछु तैसा।
जानत जानत जान रह्यो सब, मरम कहो निज कैसा।।''

रैदास जी ने संतों की परम्परा एवं मान्यताओं के अनुसार आत्मा एवं परमात्मा का अभेद निरूपित किया है। इन दोनों में जो भेद दिखलाई पड़ता है, यह भ्रमवश ही है–

''माधो भरम कैसेहु न बिलाई, ताते द्वैत दरसे आई।''

रैदास जी ने जगत् के मिथ्यावाद तथा ब्रह्म की सत्यरूपता का परिचय दिया है। संसार रज्जु में सर्प के समान भ्रम है अथवा स्वर्ण और अलंकार के समान जगद् तथा ब्रह्म का द्वैत मिथ्या है–

''रजु भुअंग रजनी परगासा, अस कछु भरम जनावा।
समुझि परी मोहि कनक अलंकृत, अब कछु कहत न आवा।।

तथा

'अहै एक पै भ्रम से दूजो कनक अलंकृत जैसे'

स्पष्ट है कि इस भ्रम का कारण है माया का प्रभाव। माया सत्य के स्वरूप को आच्छादित कर देती है, उसे प्रकट नहीं होने देती। इतना ही नहीं, माया के कारण सत्य असत्य रूप में प्रकट होता है। रैदास जी के अनुसार यह माया विचित्र है। यह मनुष्य के ज्ञान तथा बुद्धि को नष्ट कर देती है। यही जीव को ब्रह्म से पृथक कर देती है और उसके लिए दुःखों का विधान करती है–

'केशवे विकट माया तोर, ताते विकल गति मति मोर'

इतना ही नहीं माया बाजीगर की भाँति सारे संसार के प्राणियों को नचाती है। योगी, तपस्वी, पंडित, संन्यासी, बालक, तरुण, वृद्ध सभी को नाना रूप धारण कर मोहित करती है।

''बरजि हो वरजिवी उतूले माया,
जग खेदा महा प्रबल सबही बस करिये, सुर नर मुनि भरमाया,
बालक वृद्ध तरुन अरु सुन्दर, नाना भेष बनावै,
जोगी जती तपी संन्यासी, पंडित रहन न पावै,
बाजीगर के बाजी कारन, सबको कौतिग आवे।''[4]

ऐसी माया से बचने का रैदास जी बार–बार उपदेश देते हैं–

झूठी माया जग डहकाया, तौ तिन ताप दहै रे।
कह रैदास राम जपि रसना, काहू के संग न रहै रे।

इतना ही नहीं वे माया के आकर्षण को थोथा बतलाते हुए, उससे मुक्ति हेतु 'भक्ति' के महत्व को प्रतिपादित करते हैं–

यहु माया सब थोथरी रे, भगति दिस प्रतिहारि।
कह रैदास सत बचन गुरु के, सो जिव ते न बिसारि।।

रैदास जो सहज मार्ग के साधक थे, जिसमें ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का प्राधान्य है। सांसारिक माया जाल के फन्दे से बचने का सर्वश्रेष्ठ साधन ईश्वर की भक्ति ही है। कबीर भी माया महा ठगनी में

जानी का आलाप कर रहे थे, रैदास जी की मान्यता थी कि अज्ञान अंधकार में भ्रमित, विषय–वासनाओं में लिप्त जीव को ईश्वरोन्मुख करने की सामर्थ्य केवल सद्गुरु में ही है। गुरु ही जीव के विषय कपाटों को उधार कर उसमें ब्रह्म की लौ लगाता है, जीव और ईश्वर के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है। 'हरि की चटसाल' में पढ़ने के लिए रैदास जी 'गुरु की साटि' की महत्ता स्वीकार करते हैं –

'चल मन हरि चटसाल पढ़ाऊँ,
गुरु की साटि ज्ञान का अच्छर, बिसरे तो सहज समाधि लगाऊँ।'

चूँकि संतों की साधना में गुरु का महत्त्व सर्वोपरि है, ईश्वर से मिलन कराने की सम्पूर्ण प्रक्रिया में वह सक्रिय योगदान करता है, अतः रैदास जी कहते हैं– 'सो गुरु करौ जो बहुरि न करना।' गुरु साधक को ईश्वर का नाम अहर्निश जपने की प्रेरणा देता है। क्योंकि नाम– 'स्मरण' से ही उसके प्रति प्रगाढ़ भक्ति भाव पुष्ट होता है। संतों की साधना–प्रक्रिया में 'नामस्मरण' का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि प्रभु स्मरण से मन एवं बुद्धि एकाग्र होकर उसी के प्रति समर्पित हो जाती है। रैदास जी ने ईश्वर भक्ति के मार्ग में इसकी महत्ता स्वीकार की है। उन्होंने 'नाम स्मरण' पर विश्वास करके ही अन्य मांगारिक मार्गों को त्याग दिया है–

''आयौ हो आयो देव तुम सरना, जानि कृपा कीजे अपनौ जना,
तुम्हरे नाव बिसास छाड़ी है आन की आस,
संसार धरम मेरो मन न धीजें''

'नामस्मरण' के बिना भगवत्प्रेम का कोई महत्व नहीं। यही सार्थक है और शेष सब भ्रममान है, माया से परिपूर्ण हैं–

'ऐसी भगति न होइ रे भाई,
राम नाम बिनु जो कछु करिये सो सब भरम कहाई।'

संतों की ही परम्परा में रैदास जी का उद्देश्य हिन्दू, मुस्लिम दोनों वर्गों की रूढ़ियों का विरोध तथा रामकृष्ण, अल्लाह का एकरूपता का प्रचार करना था। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने एक सामान्य भक्ति–पद्धति का प्रतिपादन किया। रैदास जी रागात्मिका भक्ति, जो भगवत् कृपा से प्राप्त भगवत्प्रेम ही पर आश्रित है, को महत्त्व देते हैं। यह प्रेम–लक्षणा भक्ति 'परानुरक्तिरीश्वरे' (ईश्वर के प्रति परम अनुराग रूपा) अथवा सात्वस्मिन परम प्रेमरूपा अमृतस्वरूपा कही गयी है। रैदास जी एक सच्चे भक्त थे। आपने अपनी साधना में भक्ति के इसी स्वरूप को स्वीकार किया है–

'जा देखे घिन उपज नरक कुंड के वास,
प्रेम भगति सो उधर प्रकटत जन रैदास।'

इनका प्रेम अनन्य है, इतना ही नहीं, उनकी मान्यता है कि यह प्रेम–भक्ति अनेक प्रकार के भ्रमों को दूर करने में, उन्हंह समाप्त करने में सहायक है। इससे इतर कोई अन्य साधन उसके भ्रम को दूर नहीं कर पाते–

'अनेक जतन करि टारिए, टारे न टरे, भ्रम पास,
प्रेम भगति नहि ऊपजै, ताते जन रैदास उदास।'

इस भक्ति मार्ग में उन्होंने निष्काम भक्ति पर बल दिया है। यदि साधक किसी कामना के वशीभूत ईश्वर में अनुरक्त होता है, तो उसे हम सच्ची भक्ति नहीं मान सकते–

वरन कहत कहैं जे राम, सो भगता केवल निःकाम।

ईश्वर भक्ति पा लेना बड़ा दुष्कर है। आराध्य के प्रति अनन्य भक्ति भाव बिना कृपा के संभव नहीं–

कह रैदास तेरी भगति दूर है, भाग बड़े सो पावै।

ईश्वर की कृपा प्राप्ति के पश्चात् संसार में किसी का भय शेष नहीं रहता। ईश्वर सच्चा भक्त निर्भय, निर्द्वन्द्व हो जाता है। 'महा ठगनी माया' भी उसे प्रभावित नहीं कर पाती–

कह रैदास भगति इक बाढ़ी, अब काकी डर डारिये।

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार मन को एकाग्र कर ईश्वर की ओर उनमुख करने में बाधक है। अहंकार के वशीभूत मनुष्य के अन्तस में भक्तिभाव उदय नहीं हो सकता। यह अहंकार साधक का बहुत बहा शत्रु है। रैदास जी के अनुसार–

'काम क्रोध लम्पट मन मोर, कैसे भजन करू मैं तोर'

और जब तक मनुष्य के भीतर का यह अहंकार समाप्त नहीं होगा, साधक हरिपद विमुख ही बना रहेगा एवं तृष्णा उसे दिन–दिन नाना नाच नचाती रहेगी। ऐसी स्थिति से उद्धार के लिए रैदास जी बाप रमइया से प्रार्थना करते है–

'जन को तारि तारि बाप रमइया, कठिन फंद पर्यो पंच जमइया'

इस भक्ति मार्ग की साधना में प्रेम की मदिरा का पान करना आवश्यक बतलाया गया है। किन्तु उसका पान करना सरल नहीं–

देहु कलाली एक प्याला, ऐसा अवधू है मतवाला,
हे रे कलाली तैं क्या किया, सिरका सा तै प्याला दिया,
कड़े कलाली प्याला देऊ, पीवन हारे का सिर लेऊ,

और इस प्याले को पीने के बाद भी साधक मरता नहीं–

चंद सूर दोउ सनमुख होई. पीई प्याला मरै न कोई।''

उसके अन्दर से विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठती हैं और साधक अपने आराध्य से मिलन हेतु व्याकुल हो उठता है। उसकी यह वियोग व्यथा उस समय तक रहती है जब तक कि आराध्य से मिलन नहीं हो जाता।

भक्तिकालीन संतो ने अपने समय और समाज के सापेक्ष स्थितियों को देखा समझा और आमजन को जोड़ने के लिए एक नया मुहावरा भी गढ़ा इन संतो ने सामाजिक विषमताओं एवं कर्मकाण्डों का तीव्र विरोध किया है। सामाजिक विषमताओं को दूर करने के लिए ऊँच–नीच, जाति–पाँतिवाली वर्णाश्रम व्यवस्था की इन संतों ने निंदा की है। रैदास जी की मान्यता थी कि किसी जाति विशेष में जन्म लेने मात्र के आधार पर ही कोई ऊँचा या नीचा अथवा बड़ा–छोटा नहीं हो जाता। जो ईश्वर का सच्चा भक्त है, वहीं ऊँचा है–

रे चित्त चेत अचेत काहे, बालक को देख रे
जाति ते कोई पद नहि पहुँचा, राम भगति विसेख रे,
खटक्रम सहित जे विप्र होते, हरि भगति चित दृढ नाहि रे

हरि की कथा सुहाय नाहीं सुपच तुले ताहि रे।

स्पष्ट है कि इन पदों में रैदास सांकेतिक रूप से जाति–पाँति की व्यवस्था का खण्डन करते हैं यद्यपि उसमें कहीं कटुता का भाव नहीं आया है। आपने वेदों को श्रेष्ठता के प्रति भी अपनी अनास्था व्यक्त की है–

चारिउ वेद किआ खंडौति। जन रैदास करें डंडौति।

संत धार्मिक आडम्बरों, पाखण्डों, अंधविश्वासों के कटु आलोचक थे। सिर मुड़ाने माला जपने, तिलक लगाने आदि की रैदास ने निन्दा की है। जब तक मनुष्य ईश्वर को नहीं पहचानता, तब तक उसकी भक्ति संभव नहीं–

कहा भयो जे मूंढ़ मुड़ायो, कहा तीर्थ व्रत कीन्हें,
स्वामी दास भगत अरु सेवक, परम तत्व नहि चीन्हे।

भक्ति मार्ग में तत्त्वान्वेषी संतों ने उपनिषदीय चिंतन शैली का अनुकरण करते हुए बाह्य उपादानों का बहिष्कार करते हुए अंतर्मुखी होने पर बल दिया है। रैदास जी के अनुसार साधक तभी अपने आराध्य को प्राप्त करता है–

ऐसी भगति न होइ रे भाई
भगति न रसदान, भगति न कथै ज्ञान
भगति न बन में श्गुफा खुदाई
भगति न इंद्री बांधा, भगति न जोग साधा,
भगति न आहार घटाई ये सब करम कहाई।

प्रभु के प्रति सच्चे अनुराग के बिना सभी व्यर्थ है–

'धोया पंडित थोथी बानी, थोथी हरि बिन सबै कहानी।'

समाज के पाखण्डी लोगों पर भी रैदास जी ने तीव्र प्रहार किये हैं–

''कहा भयो बहु पाखंड कीये, हरि हृदय सपने न जान,
जो दारा बिभिचारिनी, मुख पतिवरत जिय आन।''

रैदास जी की ही भाँति प्रायः सभी संत स्वतंत्र विचारक थे। अंधानुकरण से उन्हें विशेष घृणा थी। वस्तुतः संतों का उदय ही अंधविश्वास प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों की प्रति–क्रिया के रूप में हुआ था। ये स्वभाव से ही क्रान्तिदर्शी थे। रूड़ियों का पालन, मिथ्याचारों उन्हें प्रिय नहीं था।

इस प्रकार हिंदी साहित्य के भक्ति काल में संतमत धारा में जिन संतों और भक्तों ने भक्ति की मंदाकिनी में अपने हृदय और आत्मा को एकाकार करने का प्रयास किया। उनमें संत रैदास सबसे प्रमुख थे। इनकी विचारधारा इनकी वाणी इनके आत्मा का परिष्कार भी है! कभी भी इन्होंने कबीर की तरह सीना ठोंकने या छाती पीटने का दंभ नहीं किया, अपितु अपने भाव और भक्ति को बड़े ही उदामना ढंग से प्रस्तुत किया। रैदास जी का साहित्य अन्य संतों की भाँति लोकधारा का साहित्य है। वे श्री संतों की भाँति जनसामान्य के प्रतिनिधि थे। लोकधर्म कभी भी समाज के विविध पक्षों, चिंतन, वरण और साधना को अलग–अलग रूपों में ग्रहण नहीं करता। रैदास जी ने भी अपने काव्य में दर्शन, आचरण तथा साधना को इसी स्तर पर एक साथ ही प्रस्तुत किया है। इस तरह रैदास की विचारधारा आमजन के सापेक्ष थी।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का इतिहास लोकभारती प्रकाशन संस्थान 2012, पृष्ठ 53
2. मीराबाई की पदावली, संपादक आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रकाशक, संस्करण 2008
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज संस्करण 2012, पृष्ठ 53
4. रैदास ग्रंथावली, वेलवीडियर प्रेस इलाहाबाद

Vol. XIV, [Issue No. 2 & 3 combined], May– Dec. 2017 ISSN: 0970-1745, UGC Approved Journal No.: 42069

संस्कृति की अवधारणा और साहित्य

डॉ0 जगदीश प्रसाद शुक्ल
सह–आचार्य, हिन्दी विभाग
श्री रतनलाल कॉंवरलाल पाटनी
राजकीय पी0जी0 महाविद्यालय, किशनगढ़
अजमेर, राजस्थान–305801

किसी समाज में गहरे स्तर तक व्याप्त गुणों के समग्र गुणों का नाम संस्कृति है, जो उस समाज को सोचने बिचारने कार्य करने के स्वरूप में अर्न्तनिहित होता है। इसे हम सभ्य समाजों का दस्तावेज भी कहते है। संस्कृति मनुष्य के जीवन जीने का ढंग है। यह मनुष्य को मानवता की ओर प्रेरित करने वाले आदर्शों आचार–विचारों और कार्य अनुष्ठानों की समष्टि का नाम है। इस जगत के अन्य जन जीवन व्यापी सत्यों की भाँति इस शब्द का भी आज अनेक दृष्टिकोणों, संदर्भों और विधियों में प्रयोग हो रहा है। साहित्यकार, समाजशास्त्री, दार्शनिक, धर्मविद्, इतिहासवेत्ता सभी ने अपने–अपने दृष्टिकोण से संस्कृत शब्द की व्याख्या की है। इतिहासकार के लिए किसी देश का कलात्मक और बौद्धिक विकास संस्कृति है।

साहित्य में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से संस्कृत सीखे हुए व्यवहार की वह समग्रता है जिसमें मनुष्य का, व्यक्तित्व का, पालन–पोषण और पल्लवन होता है। दार्शनिक संस्कृति को जीवन का प्रकाश और सौंदर्य मानते हैं जबकि धार्मिक दृष्टि से मनुष्य के लौकिक पारलौकिक के बावजूद के अनुकूल आचार–विचार को संस्कृति कहा जाता है। इन सभी विद्वानों और शास्त्रियों के अनुसार संस्कृति विषयक परिभाषाओं में पर्याप्त मतभेद और कहीं–कहीं विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा से अनुस्यूत है। 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'कृ धातु' से इस शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका तात्पर्य शुद्ध किया हुआ। परिष्कृत अथवा परिमार्जित करना, जैसे अर्थों में स्वीकार किया जाता है। अंग्रेजी भाषा में संस्कृति के लिए 'कल्चर' (Culture) शब्द का प्रयोग किया गया है। पाणिनि के व्याकरण के अनुसार देखें तो सम उपसर्ग के आगे रहने वाले 'कृति करादि' की अवस्था में सुर का आगम हो जाता है। फलतः समकृत और समकार इत्यादि विभाग संस्कृति, संस्कार आदि शब्दों में परिणत हो जाते हैं। जिसके अर्थ शुद्धि, सफाई, संस्कार, सुधार, मानसिक विकास, सजावट, सभ्यता इत्यादि बताए गए हैं। शब्दार्थ की अपेक्षा संस्कृति शब्द का भावार्थ अधिक विस्तृत और व्यापक है; क्योंकि इसमें परिमार्जन या परिष्कार के अतिरिक्त शिष्टता और सौजन्य के भाव का भी समावेश होता है। इस प्रकार किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र स्वरूप का नाम संस्कृति है; जो उस समाज के सोचने विचारने का कार्य करने के स्वरूप में अन्तर्निहित होता है।

संस्कृति की परिभाषा को हम विभिन्न शब्दकोशों के माध्यम से भी देख सकते है। हिन्दी शब्दकोश के अनुसार– ''संस्कृति शब्द का प्रयोग कम से कम दो अर्थों में होता है। एक व्यापक और एक संकीर्ण अर्थ में! व्यापक अर्थ में उक्त शब्द का प्रयोग नृ विज्ञान में किया जाता है। उक्त विज्ञान के अनुसार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार अथवा उस व्यक्ति का नाम है। जो सामाजिक परंपरा से प्राप्त होता है। इस अर्थ में 'संस्कृति' को सामाजिक प्रथा का पर्याय भी कहा जाता है। संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृति व्यक्ति एक श्लाघ्य व्यक्ति समझा जाता है। इस अर्थ में संस्कृति प्रायः उन गुणों को समुदाय समझी जाती है, जो व्यक्तित्व को प्रस्तुत एवं समृद्ध बनाते हैं।''[1]

हिन्दी विश्वकोश के अनुसार– ''संस्कृति सामाजिक अंतः क्रियाओं एवं सामाजिक व्यवहारों के उत्प्रेरक प्रतिमानों का समुच्चय है। इस समुच्चय में ज्ञान–विज्ञान, कला, आस्था, नैतिक मूल्य एवं प्रथाएं समाविष्ट होती हैं। संस्कृति भौतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय के उपयुक्त मनुष्य की श्रेष्ठ साधना एवं सम्यक चेष्टा की समष्टिगत अभिव्यक्ति है।''[2]

मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों में सुधार करके ही संतुष्ट नहीं हो पाता जैसा कि डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन भारतीय दर्शन के उद्‌भट ख्यातिलब्ध विद्वान थे, उन्होंने संस्कृति के संदर्भ में कहा कि– ''संस्कृति वह वस्तु है जो स्वभाव, माधुर्य, मानसिक निरोगता एवं आत्मिक शक्ति को जन्म देती है। संस्कृति मनुष्य जीवन में विप्लव ला देती है। उसकी मनोवृत्ति को ही बदल देती है। यह संपूर्ण प्राणी के उसके ज्ञान तथा संवेदना के उसके चित्त तथा बुद्धि के विचार से उल्लसित हो उठने का नाम है।''[3] पुनः डॉ0 राधाकृष्णन ने संस्कृति को उच्च मानवीय संस्पर्श देते हुए व्याख्या किया है तथा संस्कृत को आत्म साक्षात्कार और आत्म परिष्कार का प्रमुख साधन मानते हुए यह भी स्पष्ट किया है कि– ''संस्कृति मस्तिष्क की कोई स्थित विशेष अथवा रूढ़ि संहिता नहीं है, प्रत्युत एक व्यापक जीवन सिद्धांत है। एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसे, मान लेने पर मनुष्य संबंधी कोई वस्तु विजातीय साधारण अथवा पवित्र नहीं रह जाती।''[4]

मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक सम्यक् कृति संस्कृति का अंग बनती है। जिसमें प्रधान रूप से धर्म, दर्शन सभी ज्ञान विज्ञानों और कलाओं सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और प्रथाओं का समावेश किया जाता है। संस्कृति एक गतिशील प्रक्रिया है। जीवित रहने का संस्कार है। व्यक्ति के अंतर में निहित अनुभूतियों और संवेदनाओं की प्रस्तुति है। रामधारी सिंह दिनकर ने संस्कृति को निरंतर गतिशील रहने वाली संस्कार–संबद्ध, आंतरिक क्रिया के रूप में परिलक्षित किया है। इसकी परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा कि– ''संस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे सारे जीवन को भी व्यापित किये हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म जन्मांतर तक करती है....... संस्कार या संस्कृति असल में शरीर का नहीं आत्मा का गुण है और जबकि सभ्यता की सामग्रियों से हमारा संबंध शरीर के साथ ही छूट जाता है, तब भी हमारी संस्कृति का प्रभाव हमारी आत्मा के साथ जन्म जन्मांतर तक चलता रहता है।''[5]

डॉ0 एस0 आबिद हुसैन का मत है– ''संस्कृति किसी एक समाज में पाई जाने वाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है; जो सामाजिक प्रथाओं व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों आचरण के साथ–साथ उसके द्वारा भौतिक पदार्थों को विशिष्ट स्वरूप दिए जाने में अभिव्यक्त होती है।''[6]

डॉ0 तारकनाथ बाली के अनुसार– ''संस्कृति सामाजिक जीवन का वह व्यापक धर्म है, जिसमें समाज की समग्र साधना, आकांक्षा, उपलब्धि आ जाती है।''[7] वे आगे लिखते हैं– ''कि किसी समाज के जीवन के सारे धर्मों के गुणों एवं अवगुणों दोनों की समष्टि का नाम संस्कृति है।''[8]

वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि– ''संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है। विचार और कर्म के क्षेत्रों में राष्ट्र का जो सृजन है; वही उसकी संस्कृति है।''[9]

डॉ0 नगेन्द्र के अनुसार– ''संस्कृति जीवन के सूक्ष्म तत्त्वों की संहति का नाम है, जिनसे मानव चेतना का संस्कार होता है।''[10]

डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार– ''संस्कृति मनुष्य के विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है; धर्म के समान वह भी अविरोधी वस्तु है। यह समस्त दृश्य मान विरोधों में सामंजस्य उत्पन्न करती है।''[11]

मानवता के जिस रूप में हम अपनी विरासत को सहेजते है, वही सांस्कृतिक विरासत हमें पीढ़ी–दर–पीढ़ी सहेजने का आग्रह करती है। महादेवी वर्मा संस्कृति के संदर्भ में लिखती हैं– ''संस्कृति शब्द से हमें जिसका बोध होता है, वह वस्तुतः ऐसी जीवन पद्धति है जो एक विशेष प्राकृतिक परिवेश में मानव निर्मित परिवेश संभव कर देती है और दोनों परिवेशों की संगति में स्वयं आविष्कृत होती रहती है।''[12] उपर्युक्त तथ्यों और तर्कों को भारतीय विचारकों के संदर्भ में देखने से यह प्रतीत होता है कि संस्कृति प्राकृतिक परिवेश की आधारशिला पर खड़ी है; जो मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन में अंतर प्रवाहित वह जीवन पद्धति है, जिसमें मानव चेतना, संस्कार की ऐसी क्षमता निहित है; जिसके द्वारा मानव आत्म परिष्कार कर आत्मिक विकास और भौतिक उन्नत की ओर प्रवृत्त होता है। संस्कृति मानव को जीवन दृष्टि और चिंतन पद्धति प्रदान करने वाली एक जीवन शक्ति का कार्य करती है। यह सत्यम्–शिवम्–सुन्दरम् के समन्वय को आत्मसात् किए रहती है।

सब व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और क्षमता के अनुसार संस्कृति के निर्माण में परस्पर योगदान करते है। संस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के निकट पायी जाने वाली मूंगे की चट्टानों से की जा सकती है। मूंगे के असंख्य कीड़े अपने छोटे घर बनाकर समाप्त हो गये। फिर नये कीड़ों ने घर बनाये, उनका भी अन्त हो गया, लेकिन उनकी संस्कृति पीढ़ी–दर–पीढ़ी चलती रही है। यह मानवीय इतिहास के आत्मतत्व का संरक्षण व संवर्धन करती है। तथा मानव जीवन के समस्त पक्षों को अपने प्राकृतिक परिवेशित परिधि में समाविष्ट रखती है। संस्कृति का पूर्णत्व आचरण व व्यवहार में सुसंस्कृत परिष्कृति पर आधारित है। संस्कृति का संबंध जहाँ सामाजिक और आर्थिक पक्ष से है; वही वह व्यक्ति के मानसिक, आध्यात्मिक उन्नति के विकास में भी यह गहन रूप से संबद्ध है। मानव और पशुओं में जो अंतर है वह उसकी संस्कृति ही है। मूलतः संस्कृति का अर्थ मनुष्य का भीतरी विकास और उसकी नैतिक उन्नति है; एक दूसरे के साथ सद्व्यवहार है, दूसरों को समझने की शक्ति है और दूसरों के विचारों को आत्मसात करने की अवधारणा भी है। जैसे दर्शन में चक्षु के द्वारा मनुष्य को रंग और रूप का, कान के द्वारा ध्वनि का, त्वचा या स्पर्श के द्वारा ताप या शीत का, नासिका द्वारा गंध का और जीभ या रसना द्वारा स्वाद का लक्षण ज्ञात होता है। यही पांच ज्ञानेंद्रियाँ और इन्हीं के द्वारा वस्तुओं में रहने वाले गुणों का साक्षात ज्ञान होता है। उसी प्रकार मनुष्य के जीवन जीने के ढंग, उसके आसपास के परिवेश में हमें उसकी संस्कृति का ज्ञान मिलता है। भारतीय दर्शन में मानव सत्ता का वृहत्तर अंश की अस्ति भांति, प्रिय या ब्रह्म सच्चिदानंद माना गया है और भारतीय धर्म में इसी अंश को अशेष कल्याण, गुणाकर व प्रेममय ईश्वर का अंश समझा गया है। ईश्वरीय भाव दैव भाव ही मानव की यथार्थ सत्ता है।

वैश्विक परिदृश्य में भी संस्कृति की अवधारणा जटिल न होकर सरल बन चुकी है। भारतीय विद्वानों से इतर पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृति की परिभाषा अलग–अलग ढंग से दी है। उनकी दृष्टि में अधिकतर समाज सापेक्ष ही संस्कृति है, वर्ल्ड यूनिवर्सिटी इनसाइक्लोपीडिया के अनुसार– ''संस्कृति समाज विशेष की एक जीवन पद्धति है या आध्यात्मिक, भौतिक, बौद्धिक और कलात्मक व्यवहारों की ऐसी समग्रता है, जिसमें एक समूह अपनी परंपरा प्रवृत्तियों, सामाजिक कुरीतियों, नैतिक आचारों, कानूनों तथा सामाजिक संबंधों के साथ सहभागिता करता है।''[13]

प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैलिनोवस्की ने अपने शब्दों में कहा है कि– ''संस्कृति की धारणा को कृत्रिम तथ्यों और सुव्यवस्थित परंपराओं के ऐसे समुच्चय के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, जिसके माध्यम से सांचे में व्यक्ति को ढाला जाता है और संगठित सामाजिक समूह अपने संगठन (समन्वय, एकीकरण) का सम्पोषण करता है तथा नैरंतर्य उपार्जित करता है।''[14]

ब्रिटैलिकारैंडी रैंकरेंस इनसाइक्लोपीडिया के अनुसार– यह मानव के ज्ञान विश्वास तथा व्यवहार का सुव्यवस्थित एकीकृत प्रतिमान है, जो ज्ञानार्जन और अनुवर्ती पीढ़ियों तक ज्ञान संप्रेषण की मानव क्षमता का परिणाम और समाकलन दोनों है। इस प्रकार भाषा, विचार, विश्वास, रीति रिवाज, प्रतिबंध, संहिताएं, संस्थाएं, यंत्र, प्रविधियां, का कर्म, कर्मकांड, धार्मिक पर्व या प्रथाएं और प्रतीक संस्कृति में सम्मिलित हैं। मानव विकास में इसने निर्णायक भूमिका निभाई है।''[15]

अस्तु संस्कृति को वृहद् ढंग से देखा जाए तो, संस्कृति व्यक्ति को सृजित करने, समग्रता से तैयार करने, उसे संस्कार देने, पवित्र करने का संकल्प है। इसमें मानवीय विचारों को बनाने, प्रयत्न करने आदि की संपन्नता से समृद्ध करने का भी नाम है। संस्कृति नियमों की वह सामान्य व्यवस्था है, जिसमें समाज के सभी सदस्य अपनी हैसियत से मनुष्य द्वारा ग्रहण किए गए ज्ञान, विश्वास, कला, कानून, रीति–रिवाज आदि अनेक योग्यताओं अभ्यास और विधियों का समावेश करते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि मानव व्यवहार का सीखा हुआ अंश संस्कृति है। संस्कृति को जिस भी परिभाषा से परिभाषित किया जाता है वह परिभाषा समग्रता में नहीं आ पाती। सब परिभाषा अपने–अपने अनुसार नियमित और व्यवस्थित की गई हैं। संस्कृति एक वृहद् तत्व है। संस्कृति एक व्यापक विचार, जीवन शैली है। उसे किसी परिभाषा, अथवा किसी सीमा में बांधना असंभव है। परिभाषाओं को गढ़ने और जोड़ने की मानवीय, प्राकृतिक उनके ज्ञान के निरंतर विकास को अनुरेखित करते हैं। मनुष्य प्रकृत्या संस्कृति निर्माता व प्रेमी प्राणी है। पश्चिम और पूर्व के सभी विद्वानों के संस्कृत संबंधित विचारों से यही ज्ञात होता है कि, भारतीय विद्वानों ने संस्कृत की जो भी परिभाषा दी वह आत्मिक को अधिक महत्व दिया। जहाँ अपनी आत्मा और आध्यात्मिकता की कसौटी ज्यादा है। जबकि पाश्चात्य विचारकों ने

अपेक्षाकृत भौतिक पक्ष को अधिमान्यता दी है। उनके लिए भौतिक उन्नति अधिक महत्व रखती है। जबकि भारतीय चिंतन दृष्टि संस्कृति के अंतर्गत आध्यात्मिक उन्नयन आत्मिक उन्नयन को प्राथमिकता देती है।

इन सबके बावजूद पश्चिम और पूर्व दोनों की भिन्न–भिन्न दृष्टियों के माध्यम से संस्कृति के केंद्र बिन्दु पर अगर दृष्टिपात किया जाए तो, दोनों के मूलभूत तत्व स्पष्ट हो जाते हैं। जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि, संस्कृति मानव समाज का परिष्कृत प्रवृत्ति पुंज और उदात्त अंतर स्थिति है। जिसके द्वारा समाज राष्ट्र और मानव की मानसिक भौतिक और आत्मिक शक्तियों का विकास होता है। संस्कृति मानव निर्मित वह तत्व है जो, किसी एक व्यक्ति का नहीं अपितु, व्यक्तियों के समूह के आदर्शों, विश्वासों, विचारों, प्रयत्नों का परिणाम या इतिहास होता है। अर्थात् संस्कृति की रचना की पृष्ठभूमि में अनेक शताब्दियों तक के लोगों का उनकी अनुषांगिक समितियों का विश्वास होता है। लोगों के खान–पान, रहन–सहन, लिखने–पढ़ने का कार्य, काम–काज, धर्म–कर्म, चिंतन आदि जो भी विद्यमान है वह संस्कृति है। साधारण बोलचाल की भाषा में समूह के विश्वासों, आदर्शों, विचारों, व्यवहारों, रीति–रिवाजों को भी व्यवहार के अनेक उपकरणों तथा साधनों को भी संस्कृति कहा जाता है। हमारी प्रवृत्तियाँ, विश्वास और विचार, हमारे निर्णय और हमारे मूल्य हमारी संस्थाएं चाहे वे राजनीतिक हो, कानूनी हो, धार्मिक व आर्थिक हो या जो भी संस्थाएं हैं, हमारी नैतिक संस्थाएं हैं। और शिष्टाचार के नियम हैं। हमारे ग्रंथ हैं। हमारी मशीनें, ज्ञान–विज्ञान, दर्शन और दार्शनिक में सब और दूसरी बहुत सी चीज तथा प्राणी स्वयं भी और अपने विभिन्न संबंधों में भी जिसमें समाविष्ट हैं। वह सब संस्कृति के अंतर्गत आते हैं। संस्कृति इन्हीं पर आधारित होती है। मूलभूत और मुख्य रूप से यह कह सकते हैं कि संस्कृति व्यवहार, ज्ञान, विकास की उन आदर्श पद्धतियों को तथा ज्ञान और व्यवहार से उत्पन्न उन साधनों की व्यवस्था को कहते हैं, जो सामाजिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानांतरित होती रहती है। इस प्रकार संस्कृति हमारी प्रथाओं के सामान्यीकृत एवं सुसंगठित समवाय के रूप में स्थिरता की ओर उन्मुख होती है। भले ही मानवीय क्रिया–कलाप परिवर्तित होते रहते है लेकिन हमारी संस्कृति जीवित रहती है। यह मनुष्य के वाह्य विचारों कार्यों धर्म और संस्कृतियों तथा सम्पूर्ण क्रिया–कलापों की वाहक है। जिसे हम साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत करते है। बिना साहित्य के संस्कृति अधूरी है, जिस प्रकार नाटक में कथावस्तु अनिवार्य होता है, उसी प्रकार साहित्य में संस्कृति अनिवार्य है।

संदर्भ सूची :

1. डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद, अज्ञेय कवि और काव्य, वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2001, पृष्ठ 65
2. डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद, अज्ञेय कवि और काव्य, वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2001, पृष्ठ 65, हिन्दी साहित्य कोश, संपादक डॉ0 वर्मा, पृ0 868
3. हिन्दी विश्व कोश, खण्ड–2 पृ0 447
4. डॉ. राधाकृष्णन : स्वतंत्रता और संस्कृति, अनुवादक विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, संस्करण 1995, पृ. 32–33
5. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन........पृ. 54
6. रामधारी सिंह दिनकर, हमारी सांस्कृतिक क्षमता–1999, पृ0 5
7. आविद हुसैन, भारत की राष्ट्रीय संस्कृति; अनुवादक दुर्गा शंकर शुक्ल, संस्करण–2005, पृ. 3
8. डॉ0 तारकनाथ वाली सांस्कृतिक परंपरा और साहित्य, संस्करण–1959, पृ0 1
9. डॉ0 तारकनाथ वाली, सांस्कृतिक परंपरा और साहित्य, संस्करण–1959, पृ0 3
10. वासुदेव शरण अग्रवाल, कला और संस्कृति, संस्करण–1952, पृ0 3
11. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, संस्करण 1992, पृ0 65
12. इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, वॉल्यूम 9 संस्करण 1968, पृ0 541
13. वर्ल्ड यूनिवर्सिटी इनसाइक्लोपीडिया, वॉल्यूम–5, संस्करण–1968, पृ0 1403
14. इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, वाल्यूम–9, संस्करण–1968, पृ0 541
15. ब्रिटानिका रैंडी रैनकरेस एनसाइक्लोपीडिया, वॉल्यूम–3, संस्करण–2005, पृ0 88